महात्मा शाहन्शाह

(जीवन परिचय)



सत्यस्वरूप महात्मा शान्हशाह जी महाराज [ब्रह्मलीन]

भुवनेश्वरी दयाल श्रीवास्तव

महात्मा शाहन्शाह

(जीवन परिचय)

लेखक
भुवनेश्वरी दयाल श्रीवास्तव
महिला कालिज, लखनऊ

प्रकाशक
श्री शाहन्शाही सर्वहितकारी संघ
लखनऊ

प्रथमवार] [मूल्य २॥)

पब्लिशर
पवन प्रिंटिंग प्रेस
लखनऊ

पुस्तक मिलने के पते
(क) त्यागानन्द आश्रम
(सत्सङ्ग भवन)
रामदुलारे बाजपेयी लेन
गणेशगंज, लखनऊ
(ख) श्री शाहन्शाही सर्वहितकारी संघ
बीरबल साहनी मार्ग, लखनऊ

मुद्रक
रामचरण लाल श्रीवास्तव
पवन प्रिंटिंग प्रेस, नजीराबाद लखनऊ

श्री नैमिषारण्य, (उत्तर प्रदेश) निवासी
तपो मूर्ति श्री १०८ स्वामी नारदानन्द जी सरस्वती
द्वारा प्राप्त आशीर्वाद:—

तीन सजावत देश को, सती संत अरु सूर।
तीन लजावत देश को, कुलटा कायर कूर॥

सन्तों का नित्य अवतार होता है। उनकी चेष्ठा परहित के लिये ही होती है। सन्तों की जीवनी को पढ़ने से विचार शुद्ध होते हैं। विचार शुद्ध होना चित्त की शुद्धि है। जिस से शान्ति मिलती है। ईश्वर का साक्षातकार होता है। शुभ कर्म होते हैं। परिणाम में जीवन सुखमय बन जाता है। दूसरे को सुख देकर सुखी होना सन्त का सहज स्वभाव होता है।

''सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहिं कह दास तुलसी।''

नारदानन्द सरस्वती

दो शब्द

जो स्वयम् शाहन्शाह हो उसके जीवन को लेकर सीखा जा सकता है किन्तु कहा जा ही क्या सकता है ? मुझे शाहन्शाहके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली तो था ही साथ ही साथ एक विचित्र सी अनुभूति आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाला भी था। भाई भुवनेश्वरी दयाल जी ने उनकी जीवनी को लेखनी बद्ध करने का सफल एवं सुन्दर प्रयास किया है। इस प्रयास के लिये वह बधाई के पात्र हैं। उनकी शैली तो अत्यन्त रोचक और सरल है ही साथ ही साथ वह पाठक के मन पर अपना एक स्थायी स्वस्थ प्रभाव भी छोड़ जाती है। मुझे तो पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक पाठकों के लिए अत्यन्त उपयोगी मनोरंजक एवं शिक्षाप्रद सिद्ध होगी। इस प्रकार की पुस्तकों की आज दिन हमारी भाषा में घनी आवश्यकता भी है।

डा० (कुमारी) कंचनलता सब्बरवाल

१०-१२-५५

एम० ए० पी० एच० डी० शास्त्री

प्रिन्सपल

महिला कालिज, लखनऊ।

भूमिका

साधु चरित शुभ चरित कपासू।
निरस विशद गुणमय फल जासू॥
जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा।
बन्दनीय जेहि जग जस पावा॥

[तुलसी]

विश्व कल्याणार्थ तथा व्यक्तिगत कल्याण की बात को सामने रखते हुए आदि काल से धर्म ग्रन्थों की रचना हुई। वेदों को अपौरुषय माना जाता है। वह साक्षात भगवान की मूर्ति ही माने जाते हैं। इनकी रचना के साथ ही भगवान ने जीवों के कल्याणार्थ आदि काल से सन्तों को भी समय समय से संसार में भेजा है। सामाजिक उत्थान के साथ २ मानव के आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा करने का श्रेय भी सन्तों को ही है। इन सन्तों ने वेदोक्त मार्ग को अपनाया। और अपनी वाणी तथा जीवनी को अपने पीछे छोड़ा। "महाजनों येनगत: सपन्थ:" के नाते वह सभी हमारे लिये अनुकरणीय रही हैं। आज भी हम भृगु, पाराशर, गौतम, वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञयवल्क, कपिल आदि अगणित नामों को आदर से लेते हैं यद्यपि एक बड़ा काल व्यतीत हो गया है उन सन्तों को, परन्तु उनके नाम में आज भीजाग्रति है। इन्हों ने जीवन की तथा उसकी समस्याओं के साथ साथ उसके तारतम्य को भली प्रकार परखा और जैसे एक वैज्ञानिक प्रयोगशाला में अनेकों बार प्रयोग करके किसी सिद्धान्त अथवा सूत्र को संसार के समक्ष रखता है और फिर वह सिद्धान्त सारे समाज का होकर सब के लिये सुखकर होता है, इसी प्रकार इन सन्तों के जीवन तथा अनुभवों की बात है।

भगवान ने इस परम्परा को जिस प्रकार सतयुग, त्रेता,

द्वापर में स्थिर रखा, ठीक इसी प्रकार उन्होंने कलियुग में भी सन्तों तथा भगवद्भक्तों को स्वयम् भी बड़ाई दी और संसार में भी मान मिला। इसका कारण केवल उन सन्तों के उज्ज्वल चरित्र, सर्व भूत हितेरत: की भावना, तथा लोकप्रियता है।

साधारण समाज का मानसिक स्तर इतना ऊँचा नहीं होता कि वह अपना पथ प्रदर्शन स्वयम् कर ले। उसे नेता चाहिये। उसी के नेत्रत्व में वह चलता है। अत: नेता को प्रत्येक समय बहुत सावधन रहने की आवश्यकता है। सामाजिक परिवर्तन का पूरा २ उत्तरदायित्व उसी नेता पर आता है। यवनों के शासन काल में हिन्दू संस्कृति बड़े संकट में थी। उस समय भी उस प्रभू ने "धर्म संस्थापनार्थाय सम्भामि युगे युगे" के नाते देश के विभिन्न भागों में अवतार लिया। परन्तु इस बार वह धनुष बाण लेकर अथवा बाँसुरी लेकर नहीं आया वरन् सन्तों के रूप में प्रगट हुआ इन सन्तों ने समाज की आर्त दशा का अन्वेषण किया, धर्म के सूक्ष्म धागे को टूटने से बचाकर भोली भाली जनता को मार्ग दिखलाया, निर्गुण तथा सरगुण धाराओं के स्रोत बहाकर उन्हें स्नान कराया और उनके दुख मिटाए।

इन सन्तों का अपना जीवन बड़े सादे ढङ्ग का था और उनकी प्रचार शैली बड़ी सरल तथा उपयोगी थी। एक महात्मा की सूझ है कि इन सन्तों का भगवान से सीधा सम्बन्ध है।

राम संत के बाप हैं, संत राम के पूत।
संत न हौते जगत में, हौते राम निपूत ॥

संत त्रिगुण के फेर से ऊपर उठकर अपने में राम में, और जन समाज में अभेद दृष्टि रखते हुए संसार में विचरण करते हैं। और मोह निशा में सोई हुई जनता को जगाते रहते हैं।

जड़ चेतन कहँ करत सचेता।
जग माहीं विचरत यहि हेता ॥

समाज इन्हीं सन्तों के जीवन का अनुकरण करता हुआ आगे बढ़ता है। सन्तों की कभी कमी नहीं रहती। मध्यकालीन सन्तों में तुलसीदास, सूरदास, सुन्दरदास, पलटूदास, समर्थ रामदास, तुकाराम, चैतन्य महाप्रभू तथा अन्य सन्तों के नाम समाज में बड़े आदर से लिये जाते हैं।

अंग्रेज़ों के शासन काल में भी सन्तों ने इसी प्रकार से समाज की सेवा की। और अपनी वाणी तथा रहनी से अमरीका, चीन, जापान तथा अन्य देशों को चकित कर दिया। और आज के युग में भी उन देशों में सन्तों की पुण्य स्मृति में संस्थाएँ प्रचार कर रही हैं। आज भी स्वामी रामतीर्थ, विवेकानन्द तथा स्वामी शिवानन्द जी आदि को भारत का ही नहीं वरन् विश्व का समाज जानता है।

आज भी सन्त हम लोगों के बीच में हैं। और सर्व काल में रहेंगे भी। यह आकाश से सीधे नहीं उतरते। वह समाज की देन हैं। यह लोग राख में ढकी हुई आग के समान संसार में रहते हुए जीवन यात्रा करते रहते हैं। जब कोई जिज्ञासू मिल जाता है तो उसे सत पथ पर लगा देते हैं।

सन्त को समझने के लिये सन्त स्वभाव चाहिये। इस भाव के बनने में आज के दिन बड़ा कठिनता है। हम यह सोचने लगे हैं कि गीतोक्त सन्त लक्षणों से युक्त जीवन इतना कठिन है कि हम उसे केवल कल्पना में ही स्थान दे सकते हैं। परन्तु ऐसा नहीं है कि बाज नष्ट हो गया हो। इनको ढूँढ़ने की आवश्यकता है। इनकी खोज में सबसे बड़ा विघ्न है संशय। हमें एक बड़ा संशय यह है कि आज के समाज में वैसा सन्त कैसे हो सकता है। इसका कारण हमारे अपने जीवन में त्याग, वैराग्य, अचिन्तता आदि गुणों की कमी है। हम इतना त्याग कर ही नहीं पाते जितना सन्त बनने के लिये आवश्यक है। हम प्रकृति की काट छाँट से डरते हैं। यदि हम सन्त बनने के

लिये प्रकृति के इस कार्य से घबड़ाएँ नहीं तो हम स्वयम् सन्त बन जाएँगे। और हमारा जीवन दूसरों के लिये अनुकरणीय हो जाएगा।

महात्मा की जीवनी में यह बातें कि वह कब, कहाँ और किस परिस्थिति मे उत्पन्न हुआ, उसके माता, पिता तथा स्वजन कौन २ थे, इतना महत्व नहीं रखतीं, जितनी कि उनके जावन की वह घटनाएँ जो साधारण जन के जीवन स्तर से ऊँची होती हैं. जो उसे महात्मा की उपाधि दिलाती हैं। इसी प्रकार की बात हमें सूर, तुलसी तथा कबीर जी के जीवन में मिलती है। इन सन्तों का अपना निजी इतिहास भले ही विवादास्पद हो। हम भले ही इनके बाल्यकाल, वैवाहिक काल आदि के विषय में बहुत न जानते हों। परन्तु उनका सामाजिक जीवन, जन समुदाय क प्रति सहिष्णुता, जीवन चरित्र तथा अमर काव्य तथा विलक्षण उपदेश पूर्ण घटनाएँ उन्हें सूर्य चन्द्र की भाँति सदैव देदीप्यमान बनाए रहेंगी। सन्तों के अभाव में उनकी जीवनी अत: उनका जीवन सन्देश मानव के लिये एक बड़ा सहारा होता है। अत: वह भी अनुकरणीय है।

श्री शाहन्शाह जी महाराज के प्रथम दर्शन मुझे लगभग सन् १६३१ में हुए थे। उस समय मैंने स्थानीय विश्वविद्यालय में प्रवेश किया था। अत: ऐसे अवसर पर मुझे उनके दर्शनों से तथा सत्संग से कुछ विशेष आनन्द मिला। उस समय से और उनके महा प्रयाण तक मैंने जिन जिन विभिन्न दशाओं में उन्हें देखा तो उनके अन्तस्थल में दीनों, पीड़ितों, अनाथों के प्रति प्रेम ठसाठस भरा हुआ मिला। उनके चित्त की साम्यावस्था ने अनेकों बार बड़े सुन्दर ढंगों से दर्शन दिये। वह जब जब लखनऊ आते प्राय: अपनी दयालुता के कारण अन्य लोगों के साथ मुझे भी स्मरण कर लेते। मुझे उनके दर्शन तथा सत्संग का बड़ा सौभाग्य रहा और कभी २ साथ रहने का भी अवसर मिला। परन्तु तब मैं उनको इतना नहीं समझता था।

अब जान पड़ता है कि उनमें गीतोक्त स्थितप्रज्ञ के समस्त लक्षण विद्यमान थे।

आज उनका दिव्य कलेवर मेरे सामने नहीं है। परन्तु अब वह अपनी अमर वाणी में अव्यक्त रूप से केवल दर्शन ही नहीं देते वरन् जीवन सन्देश देकर जीवन दर्शन कराते हैं। अब जितना २ विचार करता हूँ, उनके गुणानुवाद गाने के लिये भी अपने को योग्य नहीं पाता। अन्तस्थल म वेदना हो उठती है कि शुभ अवसर बीत गया अब क्या हो!

उनके महाप्रयाण के पश्चात, मैं जान नहीं पाता कि क्या उन्होंने ही प्रेरणा की? मन में यह विचार उठा कि उनकी जीवनी की खोज करूँ। बहुत दिनों तक यह विचार बड़े सूक्ष्म रूप से वहीं सोता रहा। मैंने सत्संग में सुने विचारों और महात्माओं द्वारा कही गई आख्याइकाओं के आधार पर सरल कहानियाँ लिखनी आरम्भ कीं। लगभग पन्द्रह कहानियाँ इस प्रकार की लिखी गईं। इसी बीच में कुछ और सज्जनों ने श्री स्वामी जी की जीवनी लिखने का संकल्प किया। एक दिन सहसा श्री १०८ स्वामी त्यागानन्द जी महाराज ने मुझसे कहा कि तू क्यों नहीं लिखता? मैंने उत्तर दिया कि मुझ में महात्मा की जीवनी लिखने को क्षमता नही है। पुस्तक लिखना मैं नहीं जानता। उन्होंने पुन: आग्रह किया कि क्या तू लिखेगा? तुझसे लिखवाई जायगी। मैंने प्रणाम किया। मन में विचार हुआ कि अच्छा है। महात्मा का जीवन परिचय लिखने में उनका सत्संग मिलेगा और सत की मुझ पर कृपा होगी यह कितना बड़ा लाभ होगा। जब वह स्वयम् उसे लिखवाएँगे तो मुझे लेखनी दौड़ाने में क्या आपत्ति है। उसी समय श्री स्वामी सर्वानन्द जी ने भी मुझे आश्वासन दिया कि मैं यह कार्य अवश्य करूँ। अत: इन दोनों सन्तों की प्रेरणा ने ही यह पुस्तकीय कलेवर धारण किया है। मुझे यह नहीं मालूम कि इसमें क्या लिखा गया। अथवा इससे किसी को

लाभ पहुँचेगा। यह उन महाप्रभु का जीवन है। जो जीवन में शाहन्शाह रहे। महा प्रयाण भी शाहन्शाही ढंग से किया और अमर होकर ब्रह्म में लीन हो गए।

इसके छपवाने की प्रेरणा भी उन्हीं महान सन्तों से मिली जिन्हों ने इसे लिखवाया। उनके पवित्र संकल्प की पूर्ति के निमित्त पुस्तक अगस्त सन् १९५५ के महीने में सरल प्रिन्टिङ्ग प्रेस लखनऊ में दी गई। २५ नवम्बर सन् १९५५ तक कवल ७२ पृष्ट छापने के पश्चात उसके प्रबन्धक महोदय ने छापने में असमर्थता प्रकट कर दी। अतः मास के अन्त में यह पवन प्रिंटिंग प्रेस नज़ीराबाद रोड, लखनऊ में छापी गई है। इसके फलस्वरूप पाठकों को ७२ पृष्ट के आगे से दूसरे प्रकार की छपाई मिलेगी। इसके लिये उनसे क्षमा याचना है।

मेरे लिये, जिन्होंने भी इस पुस्तक के कलेवर धारण करने में सहयोग दिया है सर्व श्रेष्ठ हैं और आदर के पात्र हैं। परन्तु विशेष तया श्री १०८ स्वामी त्यागानन्द जी, स्वामी सर्वानन्द जी, श्री त्रिभन-दयाल जी, तथा माता भजनेश्वरी जी का मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मेरी सामयिक सहायता की। अन्त में मैं अपने परम सुहृद तथा मित्र श्री अवधेशदयाल जी एम० ए० एल० एल बी० एल० टी० प्रवक्ता अंगरेज़ी विभाग कालीचरन कालिज लखनऊ को धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ा और यत्र तत्र सुधारा भी और कविताएँ भी प्रकाशनार्थ दी हैं।

इस पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है। केवल इतना ही उनका पवित्र चरित्र नहीं है। इसके अतिरिक्त भी बहुत है जो मैं नहीं जानता और वास्तवमें सब नहीं जान सकते। जैसा और भी जो कुछ उन्होंने लिखवाया वही लिखा गया। वैसे तो सन्त की महिमा को ठीक उसी प्रकार से कोई नहीं जान सकता जैसे भगवान कि महिमा को।

महि पत्री करि सिन्धु मसि,
तरु लेखनी बनाय ।
तुलसी गणपति सों तद्‌पि,
महिमा लिखी न जाए।।

सन्तों का जीवन चरित्र बड़ा सरल, उपयोगी, तथा मन मोहक होता है । उसमें मेरी त्रुटियाँ अवश्य छिप गई होंगी । परन्तु कहाँ तक छिपेंगी । पाठकों को जो कुछ उपयोगी जान पड़े वह सब उन्हीं सन्त का है । त्रुटियाँ सब मेरीं हैं जिनके लिये आप से प्रार्थना है कि आप उन्हें सुधार लें और मुझ क्षमा करें ।

याते सन्त पन्थ गहि रहिये ।
अति कोमल स्वभाव सन्तनको, द्वार पड़े कछु गहिये ।।
कलि कुचाल सब जनहिं सतावत, देत विपति अति भारी ।
ताते विषम जाल अरुझान्यो, परत कूप तम हारी ।।
हौं अति दीन मलीन दयानिधि, ताते कहत सबेरो ।
सत्य प्रेम का देहु सहारा, जाते दुःख निबेरो ।।
रंक शहन्शाह बिनय करत हौं, मन चरणन मँह लागै ।
सन्त पदन की प्रीति निरन्तर, बढ़े, मोह भ्रम भागै ।।

भुवनेश्वरी दयाल श्रीवास्तव
१२-१२-५५

विषय-सूची



श्री १०८ स्वामी त्यागानन्द जी महाराज



माँ ! यह उद्‌गार सब आपके हैं।
आपके चरणों में अर्पित हैं।



"जन्म कर्म च मे दिव्यम्"

सृष्टि के विकास के साथ से ही प्रायः यह प्रश्न भी उत्पन्न हो जाता है कि वीज तथा वृक्ष में सर्व प्रथम स्थान किसको दिया जाए। कहा जाता है कि एक समय क्षीरशायी भगवान के अन्तस्थल में यह भाव हुआ कि "एकोऽहँ बहु स्याम"।

बस फिर क्या था उनकी नाभि से कमल निकला और उस पर श्री ब्रह्मा जी का प्राकट्य हुआ। जब वह अपने को समझने में असमर्थ हुए तो शून्य में शब्द हुआ 'तप, तप, तप'। बहुत विचार करने पर भी वह समझ न सके कि यह किसका आदेश है। वह तप करने लगे। कालान्तर में उन्हें अपने विषय में तथा उन्हें क्या करना है, इस विषय में जानकारी हुई। उन्होंने सर्व प्रथम मानसिक सृष्टि उत्पन्न की, जो कि समय पाकर मैथुनी में बदल गई। इस प्रकार से जब सारी सृष्टि का उद्गम श्री विष्णु ही हैं तो उनमें से फिर आसुरी सम्पत्ति कहाँ से आई? इस विषय में ऐसा इतिहास मिलता है कि कश्यप ऋषि के दो भार्याएँ थीं। दिति तथा अदिति। इन्हीं के द्वारा दैवी तथा दानवी सृष्टि का उद्गम बताया जाता है। महान् आश्चर्य जान पड़ता है कि यद्यपि इन दोनों के जनक एक ही थे पर दोनों के विचारों तथा कर्मों में पूर्ण रूपेण द्वन्द है। दैवासुर संग्राम जैसी बात तो हम

यत्र तत्र सुना ही करते हैं। दैवी तथा दानवी विचारों के मिश्रण से प्लावित एक और सृष्टि है जिसे हम मानवी सृष्टि कहते हैं। मानवी सृष्टि का पूर्ण रूपेण हम लोगों से संबन्ध है। वास्तव में यह ही वह स्तर है जहाँ से कोई जीव ऊर्ध्व अथवा अधोगति की ओर जाता है। समय समय पर केवल दैवी ही नहीं वरन् आसुरी सम्पत्ति ने भी उन्नति की है। दोनों के रहन सहन तथा विचारों में किसी प्रकार का मेल सम्भव ही नहीं है। आरम्भ काल से दोनों दलों ने अपना अपना एक गुरू निर्धारित किया और उसकी संरक्षता में कार्य करते रहे। यदि एक पक्ष को अमृत पीने को मिला तो दूसरे दल में संजीवनी शक्ति का ज्ञान था इसी के आधार पर दोनों समुदाय परस्पर एक दूसरे के प्रति लोहा लिया करते थे।

आसुरी सम्पत्ति लोक हित के लिये हानिकर है उससे सृष्टि के सृजन, पालन बाधा पड़ती है। ऐसा समझ कर ही उस जगन्नियन्ता ने समय समय पर अवतार लेकर आसुरी सम्पत्ति को नीचा दिखा कर उन्हें परास्त करके सृष्टि के दोनों पल्लों को समान रक्खा है। भगवान के दस अवतारों का क्रम अत्यंत वैज्ञानिक ढंग से है। नृसिंह अवतार में पशु से मनुष्य की ओर विकास की प्रवृत्ति जान पड़ती है। और आगे चल कर फिर भगवान बुद्ध, राम तथा कृष्ण के अवतार हुए हैं। प्रत्येक अवतार के हेतु से संबन्धित कोई न कोई कथा कही जाती है। वैकुण्ठ के द्वारपाल जय और विजय को सनकादि ऋषियों का श्राप, इसके कारण उनका हिर्ण्याक्ष, हिरण्यकश्यप, शिशु पाल, तवक्र, तथा रावण कुम्भकरण आदि रूपों में जन्म लेना कहा जाता है। इन बड़े बड़े राक्षस रूप धारी द्वार पालों को इन योनियों से मुक्ति दिलाने के लिये भी भगवान का जन्म हुआ, ऐसा कहा जाता है। इन्हीं के सहारे हमारे देश में आदि काल के महान्

साहित्यकार महर्षि वेद व्यास जी ने पुराणों की रचना करके अनेक प्रकार की नीति, कर्म, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि आदि का उपदेश कथानक के रूप में रक्खा। उनकी इस महान् देन के लिये जब तक सूर्य चन्द्र आकाश मण्डल पर आते जाते रहेंगे समस्त विश्व आभारी रहेगा।

भगवान के अवतार का जो प्रयोजन बताया जाता है उसके यह भाग हैं।

(१) परित्राणाय साधूनाम्,

(२) विनाशाय च दुष्कृताम्,

(३) धर्म संस्थापनार्थाय,

उनके इन तीनों कृत्यों में दिव्यता निहित है। यह समस्त कार्य कोई साधारण थोड़े ही हैं। इन सबों में कहीं कहीं ऐसी घटनाएँ सामने आती हैं जिनमें तर्क सफल नहीं हो पाता और फिर हमें यह कहना ही पड़ता है कि वह कर्म दिव्य हैं। धर्म की संस्थापना तथा उसका अभ्युदय दोनों ही काम बड़े कष्ट साध्य हैं और सत्य तो यह है कि यह काम भगवान ही कर सकते हैं या जिसे वह शक्ति प्रदान करें वे उन्हीं के प्रतीक संत भी यह काम कर सकते हैं। दुष्टों के विनाश के साथ साथ शेष कार्य स्वयम् सफली भूत होने लगते हैं। दुष्टों के विनाश के साथ ही (अदुष्टों) अर्थात् साधुवों का केवल त्राण ही नहीं बरन् परित्राण हो जाता है। और जब साधुमत को त्राण मिला तो दैवी गुण तो स्वतः विकसित होंगे। भगवान भक्ति ज्ञान वैराग्य आदि का ही नहीं वरन् धर्म का अभ्युदय करते हैं और उसी की संस्थापना करते हैं। बात यह है कि भक्ति ज्ञान वैराग्य आदि सब धर्म

रूपी जड़ की महान् शाखाएँ हैं। यदि जड़ की रक्षा हो गई तो समूल वृक्ष रक्षित रहेगा, ऐसा सिद्धान्त है।

हम जब भगवान के इन कृत्यों को पढ़ते हैं तो हमें पवित्रता, शुचिता, निर्मलता मिलती है। हमारे मानसिक शरीर को भोजन मिलता है। और हमारे शरीर को ऐसे कर्मों के करने की प्रवृत्ति मिलती है जिस से कि हम कर्म बन्धन से छूट कर अक्षय सुख को प्राप्त कर सकते हैं। कहा जाता है वेद के एक लक्षमंत्रों में अस्सी हज़ार तो केवल कर्म के, सोलह हज़ार उपासना के, तथा चार हजार ज्ञान के हैं। इससे यह विदित होता है कि हमारे जीवन में कर्मों का कितना प्रमुख भाग है। कर्मों की विशद व्याख्या की मुझ में क्षमता नहीं है। इनकी बड़ी गहन गति है। मोटे शब्दों में हम जो करते हैं वह या तो निषिद्ध कर्म हैं अथवा विशुद्ध कर्म हैं। निषिद्ध कर्मों से तो अपने तथा समाज दोनों को हानि पहुँचती है। उन्हें तो हमें जैसे भी सम्भव हो त्याग ही देना चाहिये, वह पतन के मार्ग में अथवा नरक के पंथ पर ले जाने वाले हैं।

विशुद्ध कर्म ही सर्वतो भावेन हमारे जीवन को विकसित करके उन्नति शील बनाते हैं। इन कर्मों की भी एक त्रिपुटी होती है, कर्म, विकर्म, अकर्म। जब इन तीनों की त्रिवेणी बन जाती है तो जीवन प्रवाह रूपी संगम में आनन्द आ जाता है। कर्म करते समय यदि उसमें मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार का पुट है तो फिर उस समय जो हमारी दशा होती है वह कर्म में विकर्म मिलने की होती है। तब ही मानव के अन्दर यह भाव जाग्रत हो पाता है कि अमुक कार्य मैं इस निमित्त कर रहा हूँ कि उस के द्वारा मेरा तथा जनता रूपी जनार्दन का योग प्राप्त हो रहा है। उसी समय वह भक्त भी है अन्यथा वह विभक्त है।

इस प्रकार कर्म करते करते जब मनुष्य का अभ्यास इतना बढ़ जाता है कि उस प्रकार के कर्म उसके सहज कर्म बन जाते हैं तो हम कहते हैं कि उसके कर्म में अकर्म मिल गया है। इसी दशा में वह कर्म करता हुआ भी अलिप्त रहता है और उस कर्म के फल रूप पाप पुण्य के भोग से बहुत ऊँचा उठ जाता है। समाज उसे साधु की पदवी देता है। तब वह महात्मा बन जाता है। उस ही के जीवन रूपी पट पर हम निम्नलिखित शब्द पढ़ सकते हैं।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निः स्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधि गच्छति ॥

(गी० २।७१)

अथवा

अद्वेष्टा सर्व भूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

(गी० १२।१३)

अतः यह समझ में आता है कि जब कभी भी वह निराकार शक्ति साकार मूर्ति धारण करती है तो साधारण कर्मों की कौन कहे! युद्ध जैसे महा घोर कर्मों को करते हुए उपरोक्त वर्णित स्थिति में टिककर हम सब को यह शिक्षा देती है कि जब रण-स्थली में मानव शान्त रह सकता है तो दैनिक व्यवहार में क्यों नहीं रह सकता।

महर्षि वेद व्यास जी ने भगवान के गुणानुवाद वर्णन करने में ऐसे स्थल उपस्थित किये हैं जहां पर भगवान के कृत्यों में अलौकिकता तथा दिव्यता झलकती है।

हमारे यहां प्रायः ऐसा माना जाता है कि भगवान के कुछ अवतार तो नित्य होते हैं और कुछ नैमित्तक होते हैं। प्रकृति में ऐसी आवश्यकता पड़ जाती है कि वह बिना प्रभू के ठीक नहीं हो सकती। उस कारण को लेकर प्रभू संसार में आते हैं और कारण नष्ट होने पर अपने कलेवर को छिपा लेते हैं। नृसिंह अवतार प्रह्लाद के संकटों का निमित्त था। वह उसी काल के लिये हुआ और फिर अदृष्ट हो गया। परन्तु राम तथा कृष्ण आदि रूपों में वही प्रभू जब अवतरित हुए तो वह हमारे सब के बीच में मानव कलेवर में अवतरित हुए। भगवान का प्राकठ्य साधारण मनुष्यों के सदृश नहीं होता, उनमें दिव्यता होती है। यह बात हमें दोनों अवतारों के सम्बन्ध में मिलती है। राम जन्म के समय कवि सम्राट गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

"भए प्रकट कृपाला, दीन दयाला, कौशिल्या हितकारी"

ऐसे ही कृष्ण जन्म के समय भी कारागार में माँ देवकी के सन्मुख एक चतुर्भुजी स्वरूप प्रकट हुआ। उसने अपना परिचय देते हुए उन दोनों सन्त मूर्तियों को सांत्वना दी कि "घबड़ाओ मत, मैं भूतल पर आता हूँ।" इसके पश्चात् उनके देखते ही वही मूर्ति शिशु रूप धारण करके मां की गोद में देखी गई।

प्रायः इस प्रकार की बातें हमारे गले से इस लिये नहीं उतरतीं कि हमें प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कसने का स्वभाव हो गया है। परन्तु यदि हम ध्यान दें तो हमें विदिति होगा कि यह तर्क कहीं २ पर काम नहीं देता और आगामी फल की कामना से प्रेरित होकर हमें विश्वास करना पड़ता है। जैसे डाक्टर द्वारा निर्धारित औषधियों पर हम तर्क नहीं करते,

अथवा वकील द्वारा बताई हुई किसी मुक़द्दमें की बात में अपनी बुद्धि को नहीं घुसने देते, उसका कारण तो स्पष्ट ही है कि उन दोनों में भावी शुभ फल की सम्भावना है। कदाचित् यह भी हो सकता है कि दोनो ही हानिकर प्रतीत हों परन्तु फिर भी केवल आशावाद के सहारे हम उसमें तर्क नहीं लगाते। इसी प्रकार और भी अनेकों परस्थितियाँ उपस्थित होती ही रहती हैं जब हम तर्क से कहते हैं, "भाई यहाँ तुम रुके रहो। तुम्हारे लिये यहाँ स्थान नहीं है। अमुक कार्य में परिणाम शुभ होगा।" यदि भगवान के जन्म तथा कर्म में दिव्यता की भावना कर लें तो उसमें क्या आपत्ति है। एक बार उसे मान कर कार्य करें फिर देखें उनके द्वारा हमारा लौकिक तथा पारलौकिक क्षेत्र में कितना लाभ होता है।

यदि हम इस प्रकार के सिद्धान्त को न मानें तो हमारे जीवन की विभिन्न स्तरों की परस्थितियां हमें उन्हें स्वीकार करने के लिये बाध्य कर देंगी। इसके अतिरिक्त हमारे यहां इतनी विशालता है कि ज़बरदस्ती कोई बात हमारे गले से नहीं उतारी जाती। हमारे सन्तों का कहना है कि जब काई भी सौदा ख़रीदो तो भाव ठीक करके ख़ूब देखभाल करके लो। भाव ठीक न होने पर कोई व्यवहार हो न सकेगा इसी प्रकार उपरोक्त सिद्धान्तों में भी बिना भावना के सफलता कठिन हो जायगी। बहुत लम्बे चौड़े तर्क के लिए इस स्थल पर स्थान नहीं है। व्यर्थ के विस्तार से कोई लाभ नहीं। गीता का निम्नलिखित सूत्र हमें उस प्रकार समझने में सहायक होगा। जो बात हमारे साढ़े तीन हाथ के पिण्ड में है वस्तुतः वही बात इस विराट् विश्व में है। इस बात पर प्रायः दो मत नहीं हैं। इस पिण्ड

में जो वात बहुत छोटे स्तर पर है विराट् में प्रायः वही बात बड़े स्तर पर है। इसमें हम देखते हैं कि—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
[गी० ३।४२]

कर्मेन्द्रियों से परे ज्ञानेन्द्रियां हैं। उनसे परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से भी जो परे है वह है आत्मा ! यदि वह आत्मा देह को छोड़ दे तो फिर उस देह से कुछ भी नहीं हो सकता, सृष्टि का समस्त कार्य उसकी उपस्थित के कारण ही संचालित होता है। परन्तु वह स्वयम् अदृष्ट तो है ही, अलिप्त भी है। क्या यह एक महान् दिव्यता की ओर हमारे विचारों को नहीं ले जाती ?

आधुनिक काल में उस प्रभू की दिव्यता को प्रमाणित करने के लिये केवल शास्त्रिक ही प्रमाण नहीं हैं वरन भौतिक विज्ञान के नाना प्रकार के आविष्कारों ने उस दिव्यता को प्रमाणित करने के लिये अनेक सुन्दर सत्य उपस्थित कर दिये हैं। अणुनिरीक्षक यंत्र के सहारे यदि हम किसी पुष्प की पखुरी की बनावट को देखें अथवा किसी रोग के कीटाणुओं को देखें तो उस महान शक्ति का अद्भुत चमत्कार हमें दिखाई देगा। संसार की समस्त प्राकृतिक वस्तुएं उस प्रभू की दिव्यता का परिचय देती हैं। विशाल पर्वत, प्रवाहित सरिता, भगवान भास्कर यह सब उसी शक्ति की दिव्यता का परिचय देते हैं।

अब हम भगवान के स्वरूप पर ध्यान दें। संत भगवद्रूप हैं। वे हर समय समाज में रहते हैं इनके द्वारा सदा से समाज का उत्थान ही हुआ है। इस प्रकार के सन्तों का भगवान से सीधा सबन्ध है दोनों एक दूसरे से ओत प्रोत हैं।

राम संत के बाप हैं, संत राम के पूत ।
संत न होते जगत में, रहते राम निपूत ।

अथवा

अन्तरयामी गर्भ गत, सन्त सुन्दरी माहि ।
तुलसी पोषे एक के, दोऊ पोषे जाहिं ।

जब इनका भगवान से इस प्रकार का संबन्ध है तो पिता पुत्र के नाते इनका भी जन्म तथा कर्म दिव्य हुआ ही करता है।

ऐसे महान् संत जब हमारे बीच में आते हैं तो बड़े ही सीधे ढंग से शान्त भाव से जन्म ले लेते हैं। भगवान इन्हें विशेष शक्ति तथा अधिकार देकर भेजते हैं। किसी ऐसी छोटी जगह से तथा साधारण माता पिता का आधार लेकर वह अपनी जीवन यात्रा आरम्भ कर देते हैं। फिर उनमें उन दैवी शक्तियों का विकास आरम्भ होता है जो उनके अन्दर पहले से ही निहित होती हैं। वह किसी पत्रिका में अपना परिचय नहीं देते अपने विषय में कोई विज्ञप्ति नहीं प्रकाशित करते वरन् उनके सद्गुणों द्वारा समाज स्वयम् उनकी ओर झुक जाता है।

हमारे साहित्य में संत काल एक प्रमुख स्थान रखता है। देश में जब यवन राज्य का बोल बाला था, जिस समय दुष्कृतियों के विनाश की तथा भारत के धर्म प्राण की रक्षा का प्रश्न था उस महान शक्ति ने कोई विशेष रूप स्वयम् नहीं धारण किया वरन् अपनी शक्ति से पूर्ण रूपेण सम्पन्न करके देश के भिन्न भिन्न स्थानों में समय के थोड़े अन्तर से सन्तों को वही काम करने के लिये भेजा जो कि वह स्वयम् करती। इन सन्तों ने किस प्रकार से प्राचीन ऋषियों की वाणी में अपने को रंग कर उनके काम को सम्पन्न किया यह छिपी बात नहीं है। अपने कृत्यों से उन्होंने

दिव्यता का परिचय दिया। जैसे कबीरदास जी का राम नाम के सहारे कोढ़ियों को अच्छा करना, सन्त ज्ञानेश्वर जी का बाल्यावस्था में ज्ञानेश्वरी गीता का रचना करना, गुरू गोविन्द सिंह जी का यवनों को परास्त करना आदि आदि। इन सब के अतिरिक्त इन सन्तों ने भी हमें वह अमर काव्य प्रदान किया कि जो चिरकाल तक हमारे लिये पथ प्रदर्शक का काम करेगा और कलिमल ग्रसित प्राणियों को कल्याण पथ का पथानुगामो करता रहेगा।

आज वह संत हमारे बीच में नहीं हैं परन्तु हम उनके साहित्य के द्वारा कुछ न कुछ उनका सान्निध्य प्राप्त कर सकते हैं। अब हम उनके जन्म स्थान और उनके साहित्य की खोज में जुटे हैं। उनके द्वारा दिये हुए सन्देशों को भली प्रकार समझ भी नहीं पाते। हमारे विश्व विद्यालयों की ऊँची कक्षाओं के छात्र न जाने कितने दिनों से इन सन्तों के अमर साहित्य का अध्ययन करते हैं इतना ही नहीं बड़ी बड़ी उपाधियाँ प्राप्त करते हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं हैं कि उन सन्तों की अमर बाणी में कितने उच्च कोटि का साहित्य है? इन सन्तों की जीवनी के विषय में जितनी जानकारी है उससे यह पता चलता है कि यह लोग वैभव सम्पन्न पुरुषों के सुधार में नहीं जुटे। उनका जीवन पर्यन्त सम्पर्क साधारण जन समाज से ही रहा। यह लोग गांव गांव घूमते थे। देहात के बड़े बड़े मेलों में प्रचार करते थे। इनके अन्तस्थल में "वसुधैव कुटुम्बकम्" की महान भावना थी। इनको अपने सुख दुख का भान तो होता ही नहीं था। क्योंकि परोपकार तो उसी समय होता है जब मनुष्य शरीर से आत्मा को पृथक समझ लेता है। यह लोग समाज को दुखी देख नहीं सकते थे। उसी वेदना से पीड़ित होकर ही

उन सन्तों ने देशाटन किया व व्याख्यान दिये, साहित्य की रचना की, और साहित्य भी ऐसा लिखा जिसके दोहरे अर्थ निकलते हैं। लौकिक तथा पारलौकिक। इन सन्तों ने यह भी समझा कि सृष्टि तीनों गुणों का मिश्रण है। अतः सत रज तम तीनों प्रकार के प्राणियों के लिये उपदेश दिया। इस प्रकार से अब भी उस उपदेश पूर्ण साहित्य की कुछ न कुछ झलक हमें एक साधारण सी झोपड़ी में भी मिलती है। यह ही उन सन्तों की महानता है। और इसी कारण से भगवान के शब्दों का प्रकाशन उनके द्वारा हुआ है।

अब हमें यह समझना शेष है कि इन सन्तों से अपना कार्य किस प्रकार चल सकता है। यह बात स्पष्ट है कि साधारण मस्तिष्क में निराकार चिन्तन होना दुस्तर है। उसे तो साकार भगवान ही सहायता दे सकेंगे। हम बालकों को जब कोई बात सिखाना चाहते हैं तो प्रायः स्थूल पदार्थों से प्रारम्भ करके ही सूक्ष्म तत्त्वों की ओर ले जाते हैं सूक्ष्म तत्त्व सीधे सीधे हमारे मस्तिष्क में आ नहीं पाते हैं। हमारे प्राचीन ऋषियों की यह अनुपम सूझ थी। उन्होंने मूर्ति के अन्दर उस परम शक्तिमय भगवान की कल्पना करा कर उस स्थूल मूर्ति के सहारे उस परम तत्त्व को समझाने की चेष्टा की। कल्पना का कोई प्रमुख घेरा नहीं है। इसके सहारे हम लोग न जाने कितनी उड़ान भरते हैं। रेखा गणित में जिस प्रकार हम कल्पना करते हैं कि यह विन्दु है अथवा यह हिमालय पर्वत है जो श्याम पट पर अंकित है अथवा खींचा गया है तो उसका भाव तो हमारी उस कल्पना से बहुत परे की वस्तु है क्योंकि विन्दु की परिभाषा ही यह बताती है कि विन्दु वह है जिस में किसी प्रकार का कोई आकार नहीं है (उस में लम्बाई चौड़ाई अथवा मोटाई आदि का कोई स्थान

नहीं)। इसी प्रकार से हिमालय के संबन्ध मेंभी ऐसी ही बात घटती है। कभी कभी बालक अध्यापक से प्रश्न कर देता है कि क्या हिमालय पर्वत इतना ही बड़ा है जितना कि श्याम पट पर खींचा गया है? ऐसे अवसर पर अध्यापक उसे उचित उत्तर दे नहीं पाता। वह कहता है "वत्स नहीं वह बहुत बड़ा है।" वह बालक हाथ फैला कर कहता है "गुरू जी क्या हिमालय इतना बड़ा है?" "नहीं बेटा बहुत बड़ा है।" उस बालक की बुद्धि उस उत्तर से सन्तुष्ट नहीं होती। कुछ देर सोचता है। उसका मस्तिष्क जो कि अभी विकास पूर्ण नहीं है हिमालय के विस्तार को जानना चाहता है। अध्यापक के शब्दों से उसे शान्ति नहीं मिलती कुछ देर चुप रह कर वह फिर कमरे के इस सिरे से उस सिरे तक दौड़ कर पुन: प्रश्न कर देता है, "गुरू जी क्या भला वह पर्वत इतना बड़ा होगा जितना बड़ा यह कमरा है?" अध्यापक उसका क्या उत्तर दे। अध्यापक जानता है कि हिमालय का विस्तार कितना है पर केवल शब्दों के सहारे वह अपने विद्यार्थी को सन्तोष नहीं दिला पाता। अन्त में वह यह कहता है "वत्स जो वास्तविक हिमालय है उसका विस्तार अभी समझाया नहीं जा सकता। यह तो श्याम पट पर उसकी कल्पना कर ली गई है कि वह इतना बड़ा है। अभी तो तुम कल्पना कर लो कि वह एक महान विशाल पर्वत है जो कि हिम का आलय (बर्फ का स्थान) है। जब बड़े हो जाओगे तो तुम स्वयम् समझ जाओगे कि इस कमरे के आकार में तथा हिमालय के आकार में किस प्रकार संबन्ध स्थापित किया जा सकता है। ठीक इसी प्रकार की उलझन अध्यापक को तब होती है जब विद्यार्थी श्याम पट पर अंकित विन्दु को देखता है और उस विन्दु की परिभाषा पर विचार करता है। एक ओर तो यह कहते हैं कि उसमें कोई माप दण्ड नहीं लग सकता दूसरी ओर

उसमें कुछ न कुछ लम्बाई चोड़ाई तथा मोटाई दिखाई देती है। विवश होकर अध्यापक यह कहता है कि भाई परिभाषा तो विन्दु (ब्रह्म) की यह है कि वह निराकार है परन्तु व्यवहार में हमें जो कुछ भी उसकी लम्बाई आदि दिखाई देती है वह केवल काल्पनिक है। तो रेखा जो विन्दुओं का ही समूह है वह भी काल्पनिक है। और इस प्रकार सम्पूर्ण रेखा गणित अथवा भूमिति शास्त्र काल्पनिक हैं। परन्तु हम विचार करें कि क्या हम इन्हें केवल कल्पना मात्र मान कर त्याग दें ? नहीं, इनके त्याग से हमारे विकास में, ज्ञान तथा व्यवहार में बड़ी हानि होगी। फिर बड़े बड़े मकान, बड़े बड़े पुल तथा अन्य उपयोगी वस्तुएँ नहीं बना सकते। अत: ऐसी कल्पना भी बड़ी सुन्दर है जो कि हमारे व्यवहार में लाभ दायक हो।

आप कहेंगे कि आपकी इस कल्पना से सन्तों को क्या संबन्ध परन्तु विचार करिये तो जिस प्रकार से एक विन्दु और रेखा में संबन्ध है उसी प्रकार सन्त और भगवन्त में सम्बन्ध है।

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी ।
चेतन अमल सहज सुख राशी ॥

अब यदि यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि हिमालय के सदृश वह ईश्वर कितना बड़ा है तो हम श्याम पट पर बने हुए हिमालय के प्रतीक स्वरूप उस रेखा की तरह संत को भगवन्त का प्रतीक मान कर यह कल्पना करलें कि इस संत में भी उसी भगवन्त की विशेषताएँ विद्यमान हैं। आप भले कहें कि ऐसी कल्पना से क्या लाभ। परन्तु हम कहेंगे कि यह हमारी केवल बाल बुद्धि का ही द्योतक होगा। आरम्भ में ही यदि कोई बालक हठ करता रहे कि नहीं वह जब तक

बिन्दु की परिभाषा वाला बिन्दु न खींच लेगा आगे रेखा त्रिकोण आदि न पढ़ेगा तो कदाचित् वह कुछ भी न सीख सकेगा और अन्य लोग उससे कहेंगे भी कि बड़े मूर्ख होजी। आगे बढ़ो फिर आजाएगा समझ में। यह बात हम आप से भक्ति के विषय में कहते हैं। पहले सन्तों को मान लो फिर देखो उनके द्वारा तुम्हारा कल्याण होता है अथवा नहीं। भक्ति के साधनों में प्रथम भक्ति सन्तों के संग के विषय में कही गई है—

"प्रथम भक्ति सन्तन कर सङ्गा।
दूसरि रति मम कथा प्रसङ्गा॥

हम जीवन भर अपने लाभ की बात सोचा करते हैं परन्तु वास्तविक लाभ क्या है और कहाँ है इसे सोचना परम आवश्यक है।

यदि हम इसे सोच न पावें और हमारी बुद्धि उतनी उड़ान न भर सके तो किसी संत अथवा ग्रंथ से पूछें वह हमें बताएगा परन्तु ग्रन्थ हमें ऐसा लेना चाहिये जिसमें किसी संत की ही बाणी हो।

इसके पश्चात् हमारी बुद्धि में धीरे-धीरे अशास्त्रीय शंकाएँ कम होने लगेंगी और भगवान् के यह वाक्य कि

"जन्म कर्म च मे दिव्यम्"

कुछ समझ में आने लगेंगे। गीता का यह मंत्र बड़ा गूढ़ है। भगवान कहते है कि मेरे जन्म तथा कर्मों को नित्य जानना और वह भी तत्व से जानना ही श्रेयस्कर है। अन्वेषण तथा विश्लेषण किसी भी प्रकार के सिद्धांत से अन्त में हम सारे संसार को एक ही तत्व में विलीन कर सकते हैं। उसका हम जो नाम चाहें रखलें। उस शक्ति के जो अनेक नाम हैं

उनको भक्तों ने अपनी सुविधा के लिए रखा है अथवा उस नाम से उन्हें लाभ हुआ, इस कारण से उन्होंने उस नाम की ख्याति बढ़ा दी। यही कारण है कि भगवान के इतने नाम जान पड़ते हैं। तत्व से जानने पर फिर सांसारिक खोखट पीछा छोड़ देती है। और उस तत्व के प्रताप से जीव मोक्ष का अधिकारी हो जाता है।

यदि इस सिद्धांत को हम इस प्रकार न समझ पाएँ तो फिर दूसरा मार्ग जो इससे सरल है उसे अपनाएँ। वह है संत जीवन। आज हम इसी मार्ग से भगवान् तथा उनके भक्त को समझने का प्रयास करेंगे। महापुरुषों की जीवनी उत्पत्ति से ही अनुकरणीय हुआ करती है। उनके बाल्य काल से ही ऐसी घटनाएँ होती हैं जिन में कभी-कभी कोई कारण नहीं बताया जा सकता है। केवल हम इतना ही कह कर सन्तोष कर लेते हैं कि यह अलौकिक हैं।

आप कहेंगे कि इन्हें जानने से क्या लाभ? इसका उत्तर स्वयम् भगवान् देते हैं।

"त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन" (गी० ४।६)

कि शरीर छूट जाने के पश्चात् फिर जन्म नहीं होता। उसका जन्म बन्धन सदा के लिये बिदा हो जाता है।

अतः जन्म मरण से मुक्त होने का एक सरल उपाय यह भी है कि हम सन्तों की जीवनी का भली प्रकार से अध्ययन करें और

"महाजनो येन गतः स पंथः"

के अनुसार उनके पद चिन्हों पर चल कर कृत्य २ हो जाएँ।





जन्म कर्म भगवान के, सभी अलौकिक जान।
सुमिरि सुमिरि गुणगण विमल, उपजत सुःख महान ॥ (१)

साधू अरु भगवान में, रंचक भेद न मान।
एक शब्द द्वै अर्थ हैं, ऐसो वेद बखान ॥ (२)

जब जब विगड़त धर्म है, प्रभु आवत यहि देस।
चोला संतन का पहिर, देत अमित उपदेस ॥ (३)

जग भव बाधा हरन को, प्रगटत हैं जग संत।
दुःख सोषत सुख प्रकटकरि, तारत जीव अनन्त ॥ (४)

समय समय के फेर से, लुप्त होत जब ज्ञान।
जग विस्तारन हेत पुनि, आवत संत महान् ॥ (५)

कलि जीवन के हेतु जग, प्रगटे शाहन्शाह।
दुःख मिटा, व्याधा कटी, बाढ़ा प्रबल उछाह ॥ (६)

त्याग योग द्वै पंथ हैं, जो काटत भव फन्द।
विषय तजै इनको गहै, पावै त्यागानन्द ॥ (७)

त्यागै जो संसार सुख, दृढ़ होवे जो नेम ।
संत मिलैं सद् पथ मिले, पावै स्वामी प्रेम ॥ (८)

शाहन्शाही मार्ग है, सरल सबल संसार ।
पावत प्राणी अमित सुख, पहुँचत परले पार ॥ (९)

भोगी तो भव रोग से, सदा रहत अति दीन।
योगी आतम ज्ञान में, फिरत किये मन पीन॥ (१०)

सत्य प्रेम की डोर में, बाँधे यदि मन प्राण।
भक्ति ज्ञान वैराग्य की, उपजै हिय में खान॥ (११)

इतना ही कहि सकत हौं, और कहूँ मैं काह।
त्यागी को ही मिलत हैं, जग में शाहन्शाह॥ (१२)







गोपाल ब्रह्मचारी

विश्वेश्वराय नरकार्णव तारणाय,
कर्णामृताय शशि शेखर धारणाय,
कर्पूर कान्ति धवलाय जटाधराय,
दारिद्र दुःख दहनाय नमः शिवाय। १।
गौरी प्रियाय रजनीश कलाधराय,
कालान्तकाय भुजगाधिप कंकाणाय,
गंगाधराय गजराज विमर्दनाय,
दारिद्र दुःख दहनाय नमः शिवाय। २।

भूत भावन भगवान शंकर इस करुण पुकार से द्रवित हो गए। माता पारवती जी ने प्रश्न कर दिया।

"प्रभू!"

"हाँ प्रिय।"

"यह किसकी पुकार है?"

"एक दुःखिनी की। उसके अनेक प्रकृति की गोद में चिर शान्ति प्राप्त कर चुके हैं। अवस्था गिर चली है पुत्र शोक से वह पुकारती है।"

"तो फिर नाथ आप को क्या देर है। आप को तो याचक अच्छे ही लगते हैं।"

"पारवती तुम अभी इस मर्म को नहीं जानतीं।

"क्या कुछ गूढ़ भेद है प्रभो. यदि मैं उसकी अधिकारिणी हूँ तो कहिये।"

"पारवती" भगवान ने कहा, "चलो वहीं चलता हूँ तुम स्वयम् समझोगी।"

इतना कहकर भगवान भोलानाथ ने पारवती सहित कैलाश छोड़ दिया और मृत्युलोक में आए। पारवती को संकेत करके आप एक मन्दिर में शिव मूर्ति में प्रवेश कर गए। वह स्त्री अभी तक स्तोत्र पढ़ रही थी। उसकी वाणी में न जाने किस प्रकार का आकर्षण था, शब्दों में इतना प्रेम टपका पड़ता था कि रह रह कर उसका कण्ठावरोध हो जाता था। वास्तव में भगवान मिलते भी इसी प्रकार की दशा में हैं जब कि

मम गुण गावत पुलक शरीरा।
गद गद गिरा नैन बह नीरा॥

मन्दिर में एक मधुर तथा गम्भीर शब्द हुआ, "पुत्री क्या आकांक्षा है?"

वह स्त्री अपने स्तोत्र में इतनी मग्न थी कि उस पर उन शब्दों का कोई प्रभाव न पड़ा। वास्तव में वह उस समय तिगुण की त्रिपट से बहुत ऊपर उठ चुकी थी। जब इस प्रकार कुछ अधिक समय बीता तो भोला शंकर को उसके हृदय से अपने रूप को हटाना पड़ा। वह घबड़ा कर जाग गई चारों ओर देखने लगी परन्तु कुछ नहीं। सन्मुख शिव लिङ्ग उसी गम्भीर दशा में विराज मान था। उसने पुनः अपने नेत्र बन्द कर लिये। सहसा फिर वही शब्द हुआ। "पगली कुछ मेरी भी सुनेगी?"

वह चौंक पड़ी। यह समझ में न आया कि वह शब्द कहाँ का और किसका था। उसने धीरे से कहा।

"हाँ! सुनती हूँ सुनाओ।"

"अच्छा सुनो। तुम क्या चाहती हो?"

"यह मैं नहीं जानती कि क्या चाहती हूँ। परन्तु हाँ इतना अवश्य चाहती हूँ कि तुम सामने आओ।

मन्दिर के चारों ओर नितान्त सन्नाटा था भगवान भास्कर के उदय होने में थोड़ा विलम्भ था। तारे धीरे धीरे विदा हो चले थे। उस रजनी के प्रभात के साथ साथ उस दुःखिनी के भाग्य का भी प्रभात हुआ वह छोटा सा मन्दिर एक विचित्र प्रकाश से भर गया। यद्यपि चारों ओर अन्धेरा था परन्तु मन्दिर में नेत्रों को चकाचौन्ध करने वाला प्रकाश था उसके मध्य में भगवान स्वयं मुसकुरा रहे थे।

"बेटी अपने मन की बात कहो।"

"प्रभू क्या कहूँ। यदि मैं ने कह दिया तो फिर आपका क्या महत्त्व रहेगा। बिना कहे ही आप समझ लें। मैं कुछ न कहूँगी। वह प्रतिमा मुसकराती रही। धीरे से उसका हाथ उठा और दुःखिनी के शीश पर रुका। वह चौंक पड़ी। उसके हृदय में भी प्रकाश हो गया कुछ समय के लिये वह शान्त हो गई।

"बता क्या चाहती है माँ तुझे वताना ही पड़ेगा।" पुनः शब्द हुआ।

"अच्छा" उसने कहा, "तुमने जो मुझे माँ कहा बस मैं, माँ बनना चाहती हूँ।"

पारवती चौंक पड़ीं। तुरन्त पूछ बैठीं "यह क्या कहती है स्वामी?"

"पारवती ! वह कह चुकी जो कहना था अब मुझे देखना है कि उसका वाक्य पूरा हो।"

"मैं अभी नहीं समझी प्रभू।"

"न सही कोई जलदी नहीं है। समय पर तुम स्वयम् जान सकोगी।"

धीरे धीरे उषा की प्रभा से पूर्व दिशा चमकने लगी। आकाश पर लालिमा छा गई। मन्दिर का प्रकाश न जाने कब विलीन हो गया यह समझ में न आया।

वह उठी और घर के कामों में लग गई। परन्तु आज उसका शरीर शिथिल है। मन में अत्यंत उल्लास है। वह गृह कार्य में तल्लीन तो है परन्तु विचार धारा प्रवाहित हो चली। उसने सोचा, "क्या वास्तव में इस बार भगवान स्वयम् आएँगे ?"

"भला मेरे ऐसे भाग्य कहाँ। नहीं नहीं आज प्रातः ही तो उन्होंने दर्शन दिये। कहा जाता है प्रातः कालीन स्वप्न सत्य होता है। तो क्या मैं सो रही थी ?"

नहीं २ मैं जाग रही थी। वह मूर्ति जाग्रत दशा में ही दिखाई दी। कोई बड़ी बात भी नहीं है। वह तो "कर्तुं अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं, सर्व समर्थ" हैं। क्या आश्चर्य है जो वह ऐसी कृपा करें।

धीरे २ दिन ढल चला। पश्चिम दिशा पीले तथा लाल रंग से भर गई। सूर्य देव अस्ताचल की ओर चल पड़े मानो अब वह कल फिर बड़े उत्साह से निकलेंगे। पक्षि

ने अपना बसेरा ताका। धीरे धीरे रंजनी का साम्राज्य स्थापित हो गया। भोजन के पश्चात सब लोग सोगए। परन्तु माँ को निद्रा नहीं आती उसने पति देव से भगवान शंकर द्वारा वर प्राप्ति की बात बताई। दोनों को अपार आनन्द हुआ। सोचने लगे "क्या वास्तव में हम लोग इतने भाग्य शाली हैं ? हैं तो नहीं परन्तु यदि वह हमें ऐसा सौभाग्य प्रदान करना ही चाहते हैं तो यही उनकी अपार दया का परिचय है। दोनों ही प्रेम पूर्वक गृहस्थाश्रम धर्म निभाते हुए रहने लगे धीरे-धीरे दस मास का समय बीत गया।

आज उसे प्रसव वेदना हो रही है चुपके से उसने स्वामी को निकट बुलाकर संकेत से समझा दिया। थोड़ा और समय बीता। रात्रि भी ढल चली। ब्रह्म बेला का समय निकट आया। आज प्रातः सूर्योदय के पूर्व ही इस घर में भी एक सूर्य उदय होने को है। वह अपने प्रकाशकत्व तथा दाहकत्व से संसार को सुखी करेगा। परन्तु यह अपने ज्ञान के बल पर सत्य तथा प्रेम के प्रकाश से रजनी रूप मिथ्या मोह का नाश करके जीवों को सच्चे सुख का आस्वादन कराएगा !

श्री केशव राम जी का भाग्य चमका, रात्रि में जागने के कारण कुछ उन्हें थोड़ी सी झपकी आगई। नेत्र लगते ही स्वप्ना वस्था में पहुँच गए। एक गौर वर्ण के अत्यंत सुन्दर बालक ने उन्हें दर्शन दिये और कहा,

"वत्स ! उठो देखो इस बार मैं" स्वयम् तुम्हारे यहाँ आ रहा हूँ। तुमने मेरी बहुत आराधना की। अब तुम्हारे कष्ट विदा हो गए। जीवन में दुख के पश्चात सुख मिलता है। मेरी याद करते रहना। उस बालक की आभा एक अनोखे प्रकारकी थी। वह देखते ही बन पड़ती थी।"

धीरे से एक स्त्री ने जगाया। "बाबू जी ?"

'हाँ" ! चौंक कर उन्होंने उत्तर दिया।

"बधाई है। घर में भगवान पधारे हैं ।"

"हाँ !"

"पगली है।"

"नहीं नहीं बाबू जी मैं सत्य कहती हूँ ऐसा दिव्य जन्म तो मैंन देखा ही नहीं। जन्म लेते ही बालक बिलकुल नहीं रोया। नत्र खोल कर चारों ओर इस प्रकार देखा मानों इस घर से परिचित हो और फिर माँ की ओर देखता ही रहा। भगवान उसे चिरायु करे। बालक बड़ा अद्‌भुत है। मुख पर तेज जान पड़ता है।"

वह स्त्री चुप न रह सकी मारे प्रसन्नता के भवावेश में कहत ही चली गई "यह तो मेरा गोपाल आगया है । जान पड़ता है इसका फिर मन चल आया है गऊवें चराने को। "

केशव राम जी बड़े प्रसन्न हुए प्राता कालीन स्वप्न की बात याद करके उनके शरीर में रोमाञ्च हो आया । क्या वास्तव में प्रभु आ गए हैं ? तब हमारे सबके कल्मष दूर हुए। बड़े उत्साह तथा हर्ष से पिता ने जातोचित संस्कार कराये। ब्राह्मणों ने स्वस्ति वाचन किया। समस्त गृह वेद ध्वनि से गूँज गया। धीरे-धीरे बालक बढ़ने लगा। उसके सौंदर्य पर ग्रामवासी मुग्ध थे। दिन भर स्त्रियों का ताँता लगा रहता। सब अपना ही बालक जान कर

नवजात शिशु से प्रम करते। माता के हृदय में यह भाव उत्पन्न हो गया कि यह गोपाल जी हैं। अतः सब लोग बालक को गोपाल कहने लगे। पुरोहित ने जन्माङ्ग खींच कर भविष्य वाणी द्वारा बताया कि यह बालक दिव्य गुण सम्पन्न होगा। इसके यश से वंश को यश मिलेगा। यह बालक बड़ा होकर ईश्वर भक्ति के सहारे संसार की अनेक भूली भटकी, भोली आत्माओं को सद्पथ पर लगा कर सत्य प्रेम के मार्ग पर अग्रसर करके भव सागर पार करेगा। उन्हों ने इसका नाम गोपाल रखा।

गोपाल धीरे-धीरे शुक्ल पक्ष के चन्द्र के समान अपनी कला बढ़ाने लगे। मुख चन्द्र आकाश चन्द्र से कम देदीप्यमान नहीं था। वह बाल छवि देखते ही बनती थी। बालक बड़ा निर्भीक था। घर में वह कभी चिड़ियों को, कभी नवेली की ओर, तो कभी अग्नि की ओर लपकता। द्रष्टि वचा कर अग्नि खण्ड को पकड़ लेता। उसके इस साहस को देखकर दर्शक स्तब्ध रह जाते।

यह सब तो था परन्तु बालक के भाग्य में माता के दुग्ध पान का सुख कम था। दैवात् माता के स्तनों में कष्ट होगया। ऐसा भीषण रोग होगया कि चिकित्सकों ने दुग्ध पान वर्जित कर दिया। विवश होकर इनकी बड़ी बहिन सुलक्षणी देवी जो मेरठ में रहती थीं उन्होंने उनकी सेवा की। एक बार का कथन है कि बहिन कहीं गई थी। रात्रि का समय था। घर में दुग्ध समाप्त होगया। बालक क्षुधा पीड़ित होकर रुदन करने लगा। अर्ध रात्रि का समय था उस समय कहीं से भी दुग्ध सेवा होनी कठिन थी। बड़ी विवशता उपस्थित हो गई। पंडित केशव राम जी बड़े असमंजस में पड़ गए। वह उस समय क्या करें। जब उनकी

आकुलता सीमा पर पहुँची तो तुरन्त द्वार पर किसी के खट खटाने का शब्द हुआ ।

"पंडित जी ?"

"कौन है ?

"बाहर आइये ।"

पंडित जी बाहर गए। देखा कि दो बड़े सुन्दर युवक द्वार पर खड़े हैं। उन्हों ने पूछा।

"क्या है ? आप बड़े विक्षिप्त जान पड़ते हैं" केशवराम जी ने बालक की भूख तथा अपनी विवशता बताई उन्होंने कहा "आप यदि स्वीकार करें तो मेरे यहाँ दूध रक्खा है।"

"हाँ हाँ। नेकी और वह भी पूछ २। आप अवश्य ला दें। आप की कृपा होगी।"

वह पुरुष चले गए और थोड़ी देर में एक दूध से भरा हुआ लोटा लेकर लौटे। पंडित जी ने दूध लेते हुये उनका परिचय पूछा। उन्होंने कहा उनका परिचय सब कुछ है और कुछ भी नहीं है। दूध घर में रख कर जब वे लोटा लौटाने के लिये द्वार पर गए तो उनके देखते देखते वे पुरुष नहीं मिले और फिर कभी नहीं देखे गए। केशवराम जी बड़े विस्मित हुए। उनकी समझ में कुछ न आया कि यह दूध लाने वाले लोग उन्हीं के पड़ोस के थे या कोई सिद्ध कोटि के व्यक्ति थे।

इसी प्रकार की अनेकों विचित्र घटनाएँ बाल्य काल में घटी जिनका समुचित उत्तर नहीं दिया जा सकता। एक और दिन की बात है कि रात्रि में बालक माता के पास सो रहा था।

माँ को सुधि न रही। बालक ने धीरे २ खिसक कर माता का स्तन अपने मुँह में ले लिया और दूध पीने लगा। भगवान की बड़ी अद्भुत महिमा को भला कौन जान सकता है। बालक के दूध पी लेने से माता की पीड़ा ही नहीं वरन रोग भी नष्ट हो गया लोगों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ।

गोपाल अब तीन वर्ष के हो गये। धीरे २ पैरों के बल चलने लगे। और बच्चों की तरह आप की वाणी तोतली नहीं थी। शब्द अत्यंत स्वच्छता से उच्चारण करते थे। पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर कभी २ बड़ा गम्भीर होता था धीरे २ वह शिवालय में प्रवेश करते और शिव लिङ्ग को पकड़ कर खड़े हो जाते। कभी २ किलकारी मार कर हँस पड़ते। मन्दिर में जो कोई कुछ प्रसाद चढ़ाता वह उठाकर खा जाते। माँ को यह बात अच्छी न लगती। वह इन्हें कभी उससे रोकती परन्तु बालक को उस प्रसाद में बड़ा स्वाद आता। एक दिन ज्येष्ठ भाई को क्रोध हो आया। उन्होंने गोपाल का हाथ पकड़ कर उठा लिया और एक कोठरी में बन्द करना चाहा। तुरन्त बालक बोल पड़ा, "भइया। मुझे क्यों बन्द कर रहे हो?"

"तुम शिव जी पर चढ़ा प्रसाद क्यों खाते हो? वह नहीं खाया जाता। उसे तो माली ले जाते हैं।"

बालक यह सुन कर चुप रह गया और धीरे से बोला "जब वह मुझे भोग लगाते हैं तो क्या मैं उसे न खाऊँ? वह सब तो मेरे भक्त हैं।"

भाई ने कहा," क्या तुम्हीं शिव हो?"

"हाँ और क्या। मैं शिव हूँ। आप शिव हैं और यह सारा जगत शिव है। यह केवल शिव ही नहीं वरन् सत्य है और सुन्दर है।"

बालक के उत्तर से पं० गंगाधर जी मंत्र मुग्ध से हो गये। इतने उच्च कोटि का उत्तर और इतने छोटे बालक के मुख से। ईश्वर की कृपा समझ कर मन ही मन बड़े प्रसन्न हुए। संसार में समस्त बातें बिरले ही भाग्यवान मनुष्यों को मिलती हैं। कहीं न कहीं कुछ त्रुटि रह जाती है। गोपाल के भाग्य में पिता का सुख बहुत कम था। पं० केशव राम जी एक बहुत साधारण बीमारी का बहाना लेकर इस नश्वर जगत को सदा के लिए छोड़ कर ब्रह्म पद में लीन हो गए। अब उनके परिवार में उनके बड़े पुत्र पं० गंगाधर जी छोटा पुत्र गोपाल जी तथा उनकी धर्म पत्नी ही रह गए। हाँ इतना अच्छा था जो इन्होंने गंगाधर जी का व्याह मेरठ में कर दिया था। इनके कुल में एक से एक अधिक विद्वान तथा आचारवान् व्यक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था। उन सबों के सद्गुण इन दोनों बालकों में थे। यद्यपि पं० केशव राम जी के और भी अनेकों पुत्र और कन्याएँ हुई परन्तु उनमें से कुछ ने स्वल्पायु में और कुछ ने मध्यायु ही में अपने पांच भौतिक शरीर को समाप्त कर दिया।

गोपाल जी सबसे छोटे थे। इसी कारण से दम्पति की इन पर अधिक ममता थी। पिता के देहावसान के पश्चात पं० गंगाधर जी ने अपने घर का भार संभाला। उन्हें अपने कनिष्ट भ्राता गोपाल पर बड़ा स्नेह था। जब गोपाल पाँच वर्ष के हुए उनके विद्यारम्भ संस्कार का महूर्त ठीक किया गया। परिवार के समस्त लोग एकत्रित हुए। एक बड़ा उत्सव रचा गया। बृहद् यज्ञ का अयोजन किया गया उसके पश्चात गुरू जी ने स्वस्ति वाचन के पश्चात बाल पोथी गोपाल के हाथमें दी और पट्टी पर ओम् शब्द लिखवाया। गोपाल ने वह शब्द पट्टी पर लिखा और नेत्र बन्द करके सुखासन से बैठ गए। गुरू जी

कुछ समय तक तो उसकी इस ध्यान मुद्रा को देखते रहे मन ही मन प्रसन्न भी हुए। और बोले।

"गोपाल ?"

"हाँ।"

"आँखें क्यों बन्द किये हो ?"

"इस लिये कि अन्दर की खुल जाएँ।"

"यह कैसे होगा ?"

"जब मनुष्य इन्द्रियों को बाहर से रोक लेता है तो उसके ज्ञान नेत्र खुल जाते हैं।" गोपाल का यह अद्भुत उत्तर सुनकर गुरू जी भी चुप रह गए। कुछ न बोले। शान्ति भंग करते हुए गोपाल ने प्रश्न कर दिया।

"गुरू जी"

"हाँ बेटा"

"आप क्या सोच रहे हैं।"

"यही कि तुम्हें यह ज्ञान कब से प्राप्त हुआ ?" हंसकर गोपाल ने तुरन्तु उत्तर दिया,

"जब से अज्ञान ने कृपा की।"

"मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तुम भी गुरू हो।"

"मैं गुरू और शिष्य दोनों से अलग हूँ।" गुरू शिष्य की यह बातें औरों की समझ में कुछ न आईं। वह उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया। सभी लोग अपने अपने घर चले गए। गोपाल अब पाठशाला में विद्याध्यन के लिये जाने लगे। वहाँ उनका विचित्र ढंग था। अवकाश के समय तथा

मार्ग में वह अपने सहपाठियों को सुन्दर ज्ञान की बातें सिखाते और समय समय पर संसार की नश्वरता तथा भोगों की असारता के विषय में भली प्रकार से समझाते। कक्षा में यह पढ़ते हुए बहुत कम देखे जाते। अध्यापक के आग्रह करने पर कभी कभी मौज में कह देते।

"गुरू जी। हम सब पढ़े हैं।"

गुरू जी को उनकी यह बात अच्छी न लगती परन्तु परीक्षा में गोपाल सर्व श्रेष्ठ रहते। धीरे धीरे घर में आनन्द का एक और अवसर बढ़ा। पं० गंगाधर जी को भी पिता बननें का सौभाग्य प्राप्त हुआ। घर में एक बालक ने जन्म लिया। माता की प्रसन्नता का वारपार न था। वह नित्य मंगल कामनाएँ करती और सोचती कि एक दिन उसके गोपाल का भी व्याह होगा। और उसके भी पुत्र होगा। उसका परिवार बढ़ेगा। परन्तु उसे कदाचित यह स्वप्न में भी अनुमान नहीं था कि गोपाल का भावी जीवन किस प्रकार का होगा। वह आज गोपाल की एक सन्तान के लिये कामनाएँ करती है। परन्तु गोपाल सारी सृष्टि के प्राणियों का पिता होगा। सभी मानव उससे प्रेम करेंगे और उससे शिक्षा प्राप्त करेंगे।

वीज अपने अस्तित्व को भू गर्भ में विलीन कर देता है परन्तु उसके इस महान समर्पण का शुभ फल वृक्ष तथा फल रूप में सारे संसार के सन्मुख आता है। उस एक के मिट जाने पर अनेकानेक जीवों को नाना प्रकार का सुख मिलता है। दम्पति ने अपने जीवन को तपोमय बनाकर अपने सुखों का एक प्रकार से हवन कर दिया। इसके फल रूप उन्हें गोपाल जैसे रत्न की प्राप्ति हुई। जिसके सहारे इस भव सागर में न जाने कितने

प्राणियों को त्राण मिला। और जब तक सूर्य चन्द्र आकाश पर भ्रमण करते रहेंगे उस महान पवित्रात्मा के सदोपदेश से समाज लाभ उठाएगा।

गोपाल का पाठशाला काल समाप्त हो गया। उनकी प्रखर बुद्धि को देख कर पं० गंगाधर जी ने उन्हें पास के एक मिडिल स्कूल में बिठा दिया। उस समय उनकी अवस्था बारह वर्ष के लगभग थी। उनका अन्तस्थल विकसित था और उनके भ्राता का भी ऐसा ही हाल था उनके विषय में बहुत प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है। एक बार मिस एनीवेसेन्ट ने कशमीर में अपने एक प्रवचन में सच्चे गृहस्थी की व्याख्या करते समय उदाहरण रूप में कहा कि (P. Ganga Dhar is a true saint in the garb of grahastha) पं० गंगाधर जी गृहस्थाश्रम में एक सच्चे सन्त हैं।

गोपाल नित्य नियम से पढ़ने जाते और अपने शेष समय को नष्ट न करते। उनके विचारों से प्रभावित होकर और भी बालक तथा बालिकाएँ भी घर पर उनके साथ खेलने आया करते। बड़े आनन्द से समय कट रहा था। सहसा उन्होंने एक दिन मां से पूछ दिया।

"मां !"

"हाँ गोपाल।"

"वह लड़की किस्सो दो तीन दिन से यहाँ नहीं आती क्या चली गई है कहीं ?"

माता का माथा ठनका उसे आवेश आ गया। गोपाल के मुख पर चांटा लग गया। गम्भीर दृष्टि से गोपाल की ओर देखते हुए तुरन्त प्रश्न कर दिया।

"क्यों किस्सो को क्या करेगा रे ?"

कुछ ना कहा । 'मैंने वैसे ही पूछ दिया ।"

माता को कुछ भ्रम हुआ । उसकी त्योरी बदल गई । परन्तु अपने विचारों को अन्तस्थल में दबा गई । वह बड़ी चतुर थी । रात्रि के समय वह एकान्त में गंगाधर जी से बोली ।

'गंगा ?"

"हाँ मां ।"

"सुनो ! बालक के जीवन को यदि कोई कम से कम २० वर्ष की अवस्था तक संभाल ले तो फिर वह जीवन में कभी न बिगड़ेगा । यह जीवन का वह काल होता है जब उसके अन्दर विकास होने लगता है इन्द्रियाँ अपने पूर्व रसास्वादन में एक नए प्रकार का अनुभव करने लगती हैं । मैं तुम से अधिक नहीं कहती मैं चाहती हूँ कि तुम गोपाल को यहाँ से हटा दो और परीक्षित गढ़ (मेरठ) के किसी स्कूल में पढ़ने के लिये बिठला दो ।" गंगाधर जी की समझ में कुछ नहीं आया परन्तु मां की आज्ञा सर्वोपरि होती है । उन्होंने उत्तर दिया ।

"जो आज्ञा ।"

"और सुनो," मां ने धीरे से कहा. वह पड़ोस में जो बाबू जी रहते हैं जिनकी लड़की किस्सो यहाँ आया करती है उनसे कह देना कि वह बालिका मेरे यहाँ न आया करे ।"

दूसरे दिन माता की आज्ञानुसार गोपाल को गाँव का स्कूल छोड़ना पड़ा और उनकी शिक्षा का प्रबन्ध परीक्षित गढ़ के एक मिडिल स्कूल में कर दिया गया । गोपाल अब अपने आपको समझने लगा था । उसकी समझ में कुछ आया कि उसे गाँव से क्यों

हटाया गया। औरों को भला क्या ज्ञान था कि वह बालक कोई साधारण बालक नहीं है। उसके अन्तस्थल में ज्ञान रवि उदय हो चुका था। ब्रह्मचय की ज्योति भी जग चुकी थी। परन्तु बालक के यह विचार अत्यंत गुप्त थे।

गोपाल के जीवन का वह काल बड़ा महत्व पूर्ण था। परीक्षित गढ़ में जिस घर में वह रहता था वह उसके किसी संबन्धी का था। उस परिवार की एक बूढ़ी माता उसमें रहती थी। उसका जीवन अत्यंत रजो गुणी था। उसका प्रभाव कुछ कुछ बालक पर भी पड़ा। एक और महत्व की बात यह थी कि उन दिनों में मिडिल पास विद्यार्थी वहुत योग्य समझा जाता था। पास पड़ोस के गाँव के लोग उसे देखने आते थे। गोपाल को भी देखने लोग आया करते थे और उनमें से एक ने उन्हें वहुत होनहार जान कर विवाह संबन्ध की भी बात चलाई। वह घर बड़ा अच्छा था। कन्या भी रूपवती थी। यह बात उसके मित्रों से छिप न सकी एक साथी ने कहा।

"क्यों भाई गोपाल हमारी मिठाई कब मिलेगी ?"

दूसरे ने कहा, "हाँ भाई। सगाई बड़ी अच्छी है। व्याह हो जाने के पीछे गोपाल हम लोगों से काहे को बोलेंगे।"

इस प्रकार की बातें गोपाल सुनते परन्तु चुप रहते। गाँव में माता तथा भाई का बन्धन था। परन्तु यहाँ स्वतंत्रता थी। पास के गाँव में उसकी बड़ी ख्याति भी हो गई थी। यहाँ तक कि यदि किसी का पत्र कोई पढ़ नहीं पाता था तो वह गोपाल के पास उसे पढ़ाने के निमित्त लाते थे। एक दिन घर में बड़े उत्सव का आयोजन किया गया। पास पड़ोस से बहुत से दर्शक आने लगे। गोपाल ने अपनी गाँव की दादी से पूछा।

"दादी । यह घर में भीड़ भाड़ कैसी है ?"

"बेटा ! आज का दिन बहुत दिनों में देखने को मिला है। हम लोगों के जीवन में आज आनन्द का स्रोत बहेगा ।"

"मैं नहीं समझा ।"

"बेटा कल तुम्हारी सगाई होगी आज गंगा भइया भी आते होंगे। सगाई का नाम सुनते ही गोपाल का माथा ठनका। बहुत कुछ उसका अर्थ तो वह समझता ही था। परन्तु फिर भी उसने दादी से प्रश्न कर दिया।

"दादी ।"

"हाँ बेटा ।"

"सगाई के पश्चात क्या होगा ?"

"बेटा फिर व्याह होगा। घर में बहू आएगी। बड़ा सुख मिलेगा ।"

"किसको किसको सुख मिलेगा ?"

"अरे बेटा क्या पागल हो गया है। तू इतना नहीं समझता। जीवन में व्याह से बढ़कर और कौन सी महत्व की बात होगी। तू तो बड़ा समझदार कहा जाता है। लोग तेरी बड़ी प्रशंसा करते हैं। और तू ऐसी बातें करता है ।"

"अच्छा दादी फिर क्या होगा ।"

"फिर तेरे बच्चे होंगे तुझे पिता जी कहेंगे। मुझे दादी कहेंगे ।"

"वह कभी मरेंगे तो नहीं ?"

"मरेंगे काहे को। भगवान उन्हें जीवित रखे। देख गोपाल मुझे ऐसी बातें अच्छी नहीं लगती। मरने जीने की कौन सी बात है।"

"नहीं दादी। मुझे यह समझा दो कि उन्हें कभी रोग तो नहीं होगा तथा सब जीवित ही रहेंगे। और यदि न रहे तो उनके दुःखों के झंझट कौन भोगेगा। अरे गोपाल यह बूढ़ों की की सी बातें क्यों करता है। यह जीवन सुख दुख भोगने के लिये तो है ही। जो मनुष्य सुख दुख से डरता है वह जीवन में कर ही क्या सकता है।"

"दादी! तो तुम्हारा भाव यह है कि पहले अपने पाँव में कुल्हाड़ी मार ले और फिर जब रक्त स्राव होने लगे अथवा पीड़ा हो तो उसके उपचार में व्यथित हो।"

"तुम्हारा अभिप्राय ?"

"मैं यह कहता हूँ कि बुद्धिमान के लिये उचित है कि वह झगड़ों की जड़ ही न पड़ने दे। अपनी ओर से कोई उत्पात न उठाए। उस पर भी जो आपत्ति मार्ग में आये उसका साहस पूर्ण ढंग से मुकाबिला करे। इसी में उसकी बड़ाई है।"

वह बूढ़ी स्त्री गोपाल की बातें सुनकर अवाक रह गई। मानों उसकी गाँठ से कुछ गिर गया हो। वह एक प्रकार से निरुत्तर हो गई। कुछ देर शान्त रही फिर बोली, "बेटा हम सबकी अभिलाषाएँ तो तुम्हारे भविष्य से ही बन्धी हैं। और तुम ऐसी बातें करते हो।"

गोपाल ने कहा, "दादी। अब तुम्हारी अवस्था लगभग सत्तर वर्ष के होगी! तुम विचार करके सत्य सत्य बताना कि तुम्हें अपने विवाहित जीवन में सुख अधिक मिला अथवा दुःख।"

वह स्त्री बड़े विचार में पड़ गई। उसे अपने पिछले जीवन काल की स्मृति हो आई। कितनी मंगल कामनाओं को लेकर उसके हाथों में एक दिन मेहदी रची गई थी। किसी युवक के साथ गठ बन्धन हुआ था। जीवन में पदार्पण के साथ साथ एक नए प्रेम का संचार हुआ था। दम्पति ने प्रतिज्ञाएँ की थी। धीरे धीरे उनके प्रेम ने अनेकों साकार मूर्तियाँ धारण कीं। उन्हें ने कई कए बालक तथा बालिकाओं को जन्म दिया। परन्तु हाय रे दुदव। आज वह सब कहाँ है। पृथ्वी ने उन्हें पुन: अपने गर्भ में ले लिया। और उसकी गोद फिर भी सूनी है। इतना ही नहीं वह जीवन साथी भी इस जीवन में ही साथ न दे सका और चिर काल के लिये अपने कलेवर को पंचतत्त्वों में मिला कर अमरत्व को प्राप्त कर चुका था। इतना ही नहीं वह स्वयम त्रयतापों का शिकार हो चुकी थी। रजोगुणी व्यसन उसे बड़ी पीड़ा देते थे। गोपाल अपने प्रश्न के उत्तर की प्रतीक्षा में उस बूढ़ी दादी को ओर देखता रहा। उसने देखा कि उसका गलारुन्ध गया। नेत्रों में जल कण प्रगट हो गए। मुद्रा गम्भीर हो गई। नेत्रों को नीचे झुका लिया और धीरे से बोली।

"जाओ गोपाल अपना काम करो। मुझे सगाई से कुछ मतलब नहीं।"

"दादी तुम रुष्ट क्यों हो गई।"

"नहीं बेटा मैं रुष्ट नहीं हूँ। परन्तु दुखी हूँ।"

"क्यों ?"

"मैं कुछ न बोलूँगी।"

गोपाल के यह विचार धीरे धीरे सब पर विदित होने लगे। सब लोग चुप चाप अपने अपने काम में लगे। संध्या के समय

पं० गंगाधर भी परीक्षित गढ़ पहुँचे। वहाँ का समारोह देखकर विस्मित हुए। दादा ने सब व्योरा उन्हें समझाया। उन्हें इतनी कम अवस्था में यह बात अच्छी नहीं लगी। रात्रि में गोपाल ने भाई को एकान्त में पाकर कहा "भइया! मैं आज अपने हृदय के विचार आपके सामने रखता हूँ। आशा है कि आप मुझे उचित शिक्षा प्रदान करेंगे। यहाँ के सब व्यक्ति तो मोहान्ध में सो रहे हैं। वर्तमान सुख के गर्भ में जो दुख निहित है वह इन्हें दिखाई नहीं देता। परन्तु आप तो सब जानते हैं।

"तो तुम क्या चाहते हो गोपाल?"

"मेरे अन्तस्थल में यह प्रेरणा हो रही है कि यदि मेरी कहीं सगाई हो गई तो बहुत बुरा होगा।"

"ऐसा क्यों है?"

"इस क्यों का उत्तर देना मेरे लिये सरल नहीं है। मैं आप से बहुत छोटा हूँ। और यह मेरी धृष्टता भी होगी जो मैं आप से अधिक वाद विवाद करू। परन्तु न जाने कौन मेरे अन्दर ऐसा कहता है कि बाल्य काल में जो नेत्र बन्द करके बैठा करते थे और ब्याह न करने की प्रार्थनाएँ किया करते थे उनका अब क्या हुआ।"

"यह कुछ नहीं गोपाल। उस समय तुम्हारी बुद्धि का विकास नहीं हुआ था। क्या तुम्हें किसी ने बहका दिया है?"

"नहीं भइया। मैं ऐसा समझता हूँ कि वैवाहित जीवन तो एक प्रकार की प्रयोग शाला है। बाल्य काल में जीवन दर्शन के सिद्धान्त गुरू द्वारा बताए जाते हैं। उसे ब्रह्मचर्य काल में वह समस्त सिद्धान्त बालक को भली भाँति समझा दिये जाते हैं

जिनसे वह निवृत्ति मार्ग में आगे बढ़ सके। परन्तु मनुष्य समाज का अंग है। उसके जीवन में सत, रज, तम तीनों गुणों का सम्मिश्रण है। अतः जब यह समझ में ठीक ठीक नहीं आ पाता तब ऋषियों ने उसके निमित्त दूसरा मार्ग निकाला है और वह है गृहस्थ आश्रम। यहाँ एक प्रकार की प्रयोग शाला है जिस में दम्पति एक दूसरे के सहारे सांसारिक द्वन्द्वों के थपेड़ों, सामाजिक उलझनों, व्यवहारिक कठिनाइयों, तथा नाना प्रकार के झंझटों में सफलता विफलता का सुख दुःख देखते हुए जीवन पथ पर बढ़ते हैं। धीरे धीरे परस्थितियाँ उन्हें इस बात का ज्ञान करा देती हैं कि जो सिद्धान्त उसने पहले पढ़े थे वह वास्तव में सत्य हैं। तब वह इन्हें छोड़ देता है और क्या कहें चोटी शिखा तथा अग्नि का भी परित्याग कर देता है। उस समय वह इस छोटी सी प्रवृत्ति (गृहस्थी) से यद्यपि निवृत्त हो जाता है परन्तु फिर उसकी भावना "वसु धैव कुटुम्बकम" की हो जाती है। और वह सन्यासी होकर जनता को जनार्दन का रूप समझ कर उसकी सेवा में रत हो जाता है।

यह तो एक मार्ग है। दूसरा मार्ग यह भी है कि यदि द्वन्द्व-मय संसार की आसारता ठीक ठीक समझ में आ गई है तो यह आवश्यक नहीं है कि वह उसी चक्र में क्रमानुसार चले। वह सीधा श्री जगद् गुरू शंकराचार्य की नाई निवृत्ति मार्ग द्वारा जन हित में प्रवृत्त हो जाए। भइया मुझे दूसरा मार्ग ही अच्छा लगता है। और सत्य तो यह है कि मैंने यह शिक्षा इतने थोड़े काल में आपसे पाई है। मैं अपने शैशव काल से ही आपके त्याग मय जीवन को देखता हूँ। आप की भी तो अवस्था अभी अधिक नहीं है परन्तु आप प्रत्येक प्रकार से अनासक्त दिखाई देते हैं।"

पं० गंगाधर जी गोपाल की बातें ध्यान से सुनते रहे। इतनी कम अवस्था के बालक से वह इतने ऊँचे स्तर की बात सुनने की

आशा नहीं रखते थे। वह मन ही मन प्रसन्न हुए। गोपाल से बोले "जाओ विश्राम करो। रात्रि अधिक हो गई है। कल प्रातः घर चलेंगे।"

पं० गंगाधर जी अपने बिस्तर पर लेट रहे। मार्ग के श्रम के कारण उन्हें निद्रा ने शीघ्र अपनी लोरियाँ दे देकर सानन्द सुला दिया। परन्तु गोपाल! उसे नींद नहीं आई। बालक कुछ समय तक बिस्तर पर पड़ा रहा। थाने के घण्टे से २ बजने के घण्टे सुनाई दिये भाई से वार्तालाप करते करते उसका मस्तिष्क बहुत ऊँचा उठ चुका था। वह बिस्तर से उठा और बाहर खुले में आ गया। चारों ओर रजनी का साम्राज्य था। आकाश गंगा अपनी दिशा बदल चुकी थी। बालक ने निर्भीकता पूर्वक चारों ओर देखा और बड़े करुण स्वर में हाथ जोड़ कर धीरे धीरे प्रार्थना की "हे सर्व शक्तिमान, सर्वान्तर्यामी, जिसकी स्तुति वेद करते करते थक कर नेति नेति कह कर शान्त हो जाते हैं उसे मैं कौन सा स्तोत्र सुनाऊँ। यदि वास्तव में आप दीनों का उद्धार करते हैं तो मेरी सुनिये। मेरे जीवन का मार्ग इस समय अत्यंत आपत्ति पूर्ण है। हे अच्युत मुझे विश्वास है कि आपके द्वार से जब कोई खाली नहीं लौटा तो मैं ही क्यों लौटूँगा।"

भगवान वैसे तो सबकी सुनते ही हैं और भाई यदि वह न सुनेंगे तो सुनेगा कौन। परन्तु बालकों की तथा बालकवत् स्वाभाव वालों की तुरन्तु सुनते हैं। हृदय स्थित प्रभू की ओर से संकेत प्रतीत हुआ।

"पग पग पर भाले गड़े, स्वांस स्वांस पर तीर।
नारायण के पन्थ में, ठहरत बिरला वीर॥

वत्स अधीर मत हो। साहसी पुरुष कभी हताश नहीं होते। परन्तु वर मांगने के पहले भली प्रकार से सोच समझ लो जिसमें

कि फिर अन्त में पछतावा न हो कि क्या कहें संसार में भी सुख था यह अब जान पड़ा। सुनो मैं तुम्हें विचार करने का समय देता हूँ। मैं तो तुम्हारे हृदय में ही हूँ। जब चाहो मुझे झाँक सकते हो। गोपाल ! तुम अधीर मत हो। देखो तुम अमृत पुत्र हो जहाँ शोक तथा मृत्यु का लेश मात्र भी नहीं है।"

इस प्रकार के विचार गोपाल के मस्तिष्क में आते जाते रहे। रात्रि के अन्धकार के साथ साथ उसके हृदय का विकार रूपी अन्धकार विलीन हो गया। और भगवान भास्कर के उदय के साथ साथ बालक के अन्तस्थल में भी ज्ञान की आभा प्रसारित हो गई। फिर क्या था वह आन्तरिक शान्ति बाहर भी प्रस्फुटित हुई।

दूसरे दिन पं० गंगाधर जी गोपाल के साथ घर पहुँचे। माता ने दोनों का स्वागत किया। गोपाल को गोद में बिठा कर मस्तक चूमा और आशीर्वाद दिया "बेटा ! खूब पढ़ो, प्रसन्न रहो।"

पुत्र को यदि कहीं त्राण मिल सकता है। यदि वह कहीं पूर्ण सुखी हो सकता है तो यह है माता की गोद। उस गोद का सुख तो उसी के भाग्य में है जो माता का भक्त हो। कहते भी हैं कि माता, कुमाता कभी नहीं होती। पुत्र, कुपत्र भले ही हो जाए।

समय एक सा नहीं रहता। भगवान स्वयं उद्धव के प्रति कहते हैं कि जो मेरी ओर बढ़ना चाहता है उसका सांसारिक व्यवहार मैं स्वल्प कर देता हूँ। उसके कुटुम्बी कम हो जाते हैं। धन सम्पत्ति आदि सिमिटने लगती है। संसार अपनी ओर से धक्के देने लगता हे। इनमें से बहुत तो नहीं परन्तु कुछ बातें तो पं० मंगाधर जी के ऊपर घटीं। अभी उनके विवाह के बहुत दिन नहीं हुए थे। भगवान ने उनकी गोद में एक बालक भी दिया था

परन्तु उनके ऊपर आपत्ति का पर्वत टूटा। अभी उनकी अवस्था लगभग २० या २२ वर्ष की ही होगी कि उनकी धर्म पत्नी ने सदैव के लिये संसार परित्याग करके भगवद् चरणार्विन्द से एकता प्राप्त करली। घर की समस्या बहुत बिगड़ी। माँ के अभाव में उस छोटे बालक का भार उनकी माता पर पड़ा उनके दु:ख की सीमा नहीं रही। यद्यपि पं० गंगाधर जी ने बहुत समझाया और गोपाल ने भी अपनी समझ से आश्वासन दिया, परन्तु ऐसी बातों में दूसरों की अपेक्षा स्वयं अपने आप जब धैर्य उत्पन्न होता है तो वह ही चिर काल तक रहता है। दूसरों के समझाने से बहुत लाभ नहीं होता। माता को अपने पहले के दु:ख याद आने लगे। दोनों लड़के जब बाहर चले जाते तो वह छोटे शिशु को गोद में लेकर बैठ जाती और उसकी माता की याद करके रोती। अब उनके जीवन में सुख विदा हो गया था। इसी प्रकार दो वर्ष व्यतीत हो गए। दिन सदैव एक से नहीं रहते। वृद्धा के जीवन में सुख दु:ख ने समता प्राप्त कर ली थी। परन्तु जब कुछ लोग गंगाधर तथा गोपाल के व्याह के लिये आने लगे तो उसके आशा तरु में नवीन फलों की आशा झलकने लगी। परन्तु मनुष्य का सोचा हो नहीं पाता। समस्त मानव जीवन सुख दुख की हिलोरों में व्यतीत होता है और अन्त में केवल एक ही प्रश्न सामने आता है कि उस समय कौन सा संस्कार प्रबल है। माता के लिये पुत्र स्नेह एक बहुत बड़ा संस्कार है। यद्यपि कई व्यक्ति गंगाधर जी के विवाह के लिये भी आए परन्तु दोनों लड़कों ने उनकी ओर ध्यान ही न दिया। वास्तव में दोनों का ही जीवन अत्यंत सात्विक था। परन्तु एक दिन जब माता ने गंगाधर से बहुत विनम्रता पूर्वक अपने हृदय की बात कही तो वह बड़े असमंजस में पड़ गए। माता की आज्ञा टालने का उनका स्वाभाव नहीं था। आज एक ऐसी आज्ञा मिल रही जिसके पालन करने में बड़ी कठिनता है।

उन्होंने मां से कहा "आपकी आज्ञा न मानने की मुझ में शक्ति नहीं है, मैं आप से वाद विवाद भी नहीं कर सकता परन्तु क्या वास्तव में एक मनुष्य को पुनर्विवाह करना चाहिये। भगवान राम जैसे महापुरुष को लोग इस कारण से महान मानते हैं कि उन्होंने अपने कुल में एक-पत्नी व्रत धर्म का पालन किया। सच तो यह है कि मेरा विवाह हो गया। अब यदि मेरे भाग्य में गृहस्थी सुख नहीं था तो फिर भी न मिलेगा।"

"बेटा मेरे बुढ़ापे की ओर देख, जब से बहू नहीं रही है एक दिन भी बिना रोये रोटी नहीं खा पाती। कितनी कठिनता से मैं घर का धन्धा करती हूँ। आखिर इस बुढ़ापे में कुछ तो सहारा चाहिये।"

"मां! सहारा तो मैं स्वयं दूँगा। उसकी चिन्ता आप न करें फिर अब तो एक संतान भी हो गई है। अब मेरे संबन्ध में विवाह का प्रश्न न उठना चाहिये। हाँ रही बात गोपाल की, सो ठीक है। उससे आप भी कहें और मैं भी समझाऊँगा।"

कुछ समय के लिये विवाह की बात फिर टल गई। परन्तु अधिक समय तक टल न सकी। एक दिन जब मां ने बहुत आग्रह किया तो पं० गंगाधर ने गोपाल को पास बिठा कर सिर पर हाथ फेरा और कहा "गोपाल!"

"हाँ भइया!"

"आज एक बहुत महत्व की बात पर विचार करना है। लक्ष्य हीन मनुष्य का संसार में कोई जीवन नहीं है। वह तो ऐसे ही साधारण पशुओं के समान खाता पीता, लड़ता झगड़ता, संसार से चला जाएगा। वास्तव में मानव चोले को सार्थक बनाने के लिए जब सब बातें समझने की क्षमता जीव में आने लग जाए तो वह अपना लक्ष्य पहले निश्चित कर ले और फिर अपने जीवन

रूपी तीर को उसी लक्ष्य के भेदन के निमित्त काल की कमान पर चढ़ाकर वार करे। उसका कल्याण हो जाएगा। सुनो! गोपाल मैं तुम्हें बहुत बुद्धिमान समझता हूँ बताओ तुमने अपने जीवन का क्या लक्ष्य बनाया है।

"मैंने कोई नया लक्ष्य तो बनाया नहीं। वही जो मार्ग हमारे प्राचीन ऋषि मुनि अपनाते आए हैं वही पथ मुझे भी सुगम लगता है।"

"तो ठीक है। हमारे देश में तो उन महापुरुषों ने जीवन को चार अङ्गों में बाँट कर अपनी तथा समाज की सेवा करते हुए अन्त में अक्षय सुख की प्राप्ति की बात बताई है। अभी तक तो तुमने पहला आश्रम पार किया अब दूसरे में प्रवेश करने का समय आ गया है। अतः अब तुम मुझे विश्वस्त रूप से बताओ कि तुम किस प्रकार का जीवन साथी चाहते हो।"

गोपाल बहुत चतुर था। भाई के अभिप्राय को तुरन्त ताड़ गया अपने भावों को दबाते हुए उसने पुनः प्रश्न कर दिया। "आप मुझ से क्या जानना चाहते हैं?"

"यही कि तुम विवाह करोगे या नहीं।"

"इस विषय को तो आप मुझ से अच्छा जानते हैं। जो बात आपके लिये हितकर है वह मेरे लिये भी हितकर ही होगी। इससे अधिक और मैं कुछ नहीं जानता।"

गोपाल ने अपने बड़े भाई के विचार पहले से ही सुन रखे थे। उसे ज्ञात था कि भइया अब किसी प्रकार से भी विवाह नहीं करेंगे। यद्यपि उन्हें ऐसा करने के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं था, क्योंकि भगवान् ने उन्हें रेल विभाग में अच्छी नौकरी दे रक्खी थी। छोटे-बड़े सभी कर्मचारी उनसे बहुत प्रसन्न तथा सन्तुष्ट थे। फिर भी वह अपने साधु स्वभाव वश एक बार इस बन्धन

मुक्त हो जाने पर पुनः उसमें नहीं पड़ना चाहते थे। गोपाल का यह उत्तर सुनकर पं० गंगाधर चुप रह गए। इस प्रकार कुछ महीने बीत गए। परन्तु एक दिन जब माँ ने पुनः बहुत आग्रह किया तो उन्होंने फिर गोपाल से बड़े मीठे शब्दों में प्रार्थना की कि वह विवाह की स्वीकृति दे दे। और यह भी कह दिया कि उसके ऐसा न करने से माता को बड़ा मानसिक कष्ट है। परन्तु गोपाल ने कुछ भी उत्तर देना अभीष्ट न समझा।

विवाह का प्रश्न कुछ ठीक हो न पाया और गोपाल ने लाहौर के विश्वविद्यालय में पदार्पण किया। इन्हीं दिनों में पं० गंगाधर जी भी रेल के एक कार्यालय में सेवा करते थे। उनकी दिनचर्या बड़ी विलक्षण थी। घर पर जितने समय तक वह रहते थे कोपीन लगाए भजन में मस्त रहते थे। भोजन तथा भजन के अतिरिक्त और कोई अन्य कार्य न था। इनके ऊपर वाणा-धारिणी माता सरस्वती की अनुपम कृपा थी। गान विद्या के कलाकार घर पर बने रहते थे। उनका सारा वेतन इन्हीं लोगों की सेवा में व्यय हो जाता था धीरे २ यह रंग गोपाल पर भी चढ़ा। एक दिन उनके सत्सङ्ग के एक सज्जन ने (जिनका नाम श्री इकबाल नाथ काश्मीरी था) उनसे कहा—

"पं० गंगाधर जी, चलिये अब कुछ दिन काश्मीर में जनता की सेवा करिये। अन्न जल की बात थी। उन्होंने स्वीकृति दे दी। रेल के सेवा कार्य से त्याग पत्र दे दिया। यह बात उनके उच्च पदाधिकारी को अरूचिकर लगी। उन्होंने सोचा कि सम्भवतः पंडित जी की आय कम तथा व्यय अधिक है। कदाचित इस निमित्त त्याग पत्र देते हैं। उन्होंने तुरन्त उनका स्थान परिवर्तन कर दिया और कहा।

"अब तो आपको त्याग पत्र देने की आवश्यकता नहीं है।"

"क्यों ?

"अब आपको कुछ अधिक धन मिल जाया करेगा।"

पं० गंगाधर जी ने कहा, "मुझे खेद है कि आप मुझे नहीं समझे।" उनके मुख से यह दोहा निकल गया।

जूआ, चोरी, मुखबरी, व्याज, घूस, परनार।
जो चाहे दीदार को, एती वस्तु निवार॥

उन्होंने कहा, कि अब वह नौकरी नहीं करेंगे और पं० इकबाल नाथ जी के साथ काश्मीर चले गए। वहाँ पहुँचने पर महाराजा प्रताप सिंह जी ने उनका बड़ा मान किया। इनकी सत्यता, उदारशीलता, सरलता आदि से वह पूर्व ही परिचित थे। परन्तु भेंट होने पर विशेष प्रभाव पड़ा। और उन्होंने इन्हें एक उच्च पद पर नियुक्त किया। फिर क्या था। इनके सद्गुणों की सुगंध से सारा राज्य महक गया। इनकी बड़ी ख्याति बढ़ी। परमार्थ और वैराग्य के साथ साथ उनमें साँसारिक व्यवहारिक कौशल भी चोटी का था। काश्मीर में धीरे २ उनको सब लोग जान गए। एक दिन वहाँ के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति ने उनसे एकान्त में उनके विवाह के विषय में बात की। इस बार विवाह का प्रश्न बड़ी गम्भीरता के साथ उठा। पंडित जी ने जब अस्वीकार किया तो उन्होंने कहा।

"अच्छा तो अपने छोटे भाई की ही सगाई स्वीकार कर लीजिये।"

"आप बालिका का चित्र दें तो मैं उसे दिखाकर उसकी अनुमति प्राप्त करलूँ।" उन्होंने कन्या का चित्र लाहौर में गोपाल के पास भेजा और एक नहीं थोड़े ही समय के फेर से तीन चित्र भेजे और उनमें से एक चित्र के लिये बहुत आग्रह भी किया।

गोपाल की जीवन नइया मंझधार में आने पर थी। युवा अवस्था के भंवर में पड़ने वाली थी। परन्तु वह युवक उससे सावधान था। स्वयम् तो भंवर से बचना ही चाहता था और यदि कहीं असमर्थता जान पड़ती थी तो बड़े कर्णधार को पुकार देता। वह तो अत्यंत सुजान माँझी है। जब वह भवसागर पार कर देता है तो इस साधारण प्रवाह और उसके थपेड़ों से क्यों न बचाएगा। अब धीरे २ फिर वही समस्या गोपाल के सन्मुख उपस्थित हुई। माता की आज्ञा, भाई का अनुरोध, पास पड़ोसियों की सम्मति, समयानुकूल आवश्यकता, प्राकृतिक परिवर्तन, सब एक साथ उठ खड़े हुए। गोपाल को इन सबसे लोहा लेना था। उसने सोचा कि यदि इस बार विजय मिल गई तो फिर सदैव के लिये मिल जाएगी। मिलेगी क्यों नहीं। हाँ यदि उसकी अपनी कोई दुर्बलता न हुई तो जयश्री अवश्यमेव दर्शन देगी।

उसने सोचा कि भइया जब मेरे विचारों को भली प्रकार समझते हैं तो फिर उन्होंने यह चित्र क्यों भेजे ? इतना ही नहीं उस चित्र पर स्वीकृति भी माँगी है। कुछ समझ में न आया। कालेज से घर लौटा।

सन्ध्या हो चली थी। धीरे २ प्रकाश ने अंधकार को स्थान देना आरम्भ किया। रजनी का साम्राज्य स्थापित होने लगा। नभ दीपक टिमटिमाने लगे। थोड़े समय के पश्चात् पूर्व दिशा में चन्द्रोदय से वह सभी दीपक फीके पड़ गए। गोपाल के जीवन में वह एक विशेष रात्रि थी। वह अपने स्थान पर लेटा था। बालिकाओं के चित्र सिरहाने रखे थे। एकान्त में विचार धारा प्रवाहित हो चली। मनोरम संसार के दृश्य एक एक करके सामने आने लगे। दाम्पत्य जीवन के सुखों ने भी मस्तिष्क में स्थान

जमाया। इन्हीं भावी सुखाभास के विचारों में उसे निद्रा देवी ने लोरियाँ दे दे कर अपनी गोद में विश्राम दे दिया और वह इस जगत से दूसरे जगत में पहुँचा। सहसा स्वप्न देखने लगा। एक अत्यन्त सौंदर्य पूर्ण गौरवर्ण की मूर्ति ने मुस्कराते हुए उससे कहा,

"वत्स !

तुम्हें क्या आपत्ति है। तुमको तो मैंने भेजा है। और तुम मेरी शक्ति से सम्पन्न हो। तुम प्रवृति क्यों स्वीकार नहीं करते। देखो मैंने भी तो पार्वती को स्वीकार किया। मानव जीवन पूर्ण विकास को तभी प्राप्त होता है जब वह शिव पार्वती अथवा लक्ष्मी नारायण के समान रहे। सुनो! संसार में स्त्री एक अपूर्व रत्न है। यह वह शक्ति है जो हम जैसों को संसार में प्रगट करती है। वह आदि पुरुष अपनी इसी महामाया के साथ मिलकर विकसित होता है।"

"परन्तु भगवान फिर आप समाधि लगा कर श्मशान क्यों सेवन करते हैं? अवश्य ही विस्तार की अपेक्षा एकत्व सुख कर होगा सूक्ष्म वस्तु में शक्ति का आधिक्य होता है।"

"यह सब तो ठीक है। परन्तु साधना की परिपक्व अवस्था में विस्तार से कोई भय नहीं रहता। वह शुद्ध तत्त्व फिर किसी क्रिया के करने अथवा न करने से न बनता है और न बिगड़ता है। ऐसा समझ कर संसार में रहकर सेवा का कार्य करना चाहिये।"

गोपाल ने कुछ सोच कर पुनः उस मूर्ति को जो अपने अर्धउन्मीलित नेत्रों से देख रही थी प्रश्न कर दिया।

"क्या आप सेवा का स्तर बताने की कृपा करेंगे।

"सेवा का वही स्तर श्रेयस्कर है जो सेवक को स्वामी बना सके।"

"तो क्या प्रवृत्ति में उतर कर प्राणी समाज की दासता से बच सकेगा और फिर वह भी आज कल के समाज की। मनुष्य एक समय में ऐसा कैसे कर सकता है ।"

"गोपाल ! क्या समाज के प्राणी उसके स्वामी की आत्मा नहीं हैं। क्या यह जगत, सीय राम मय नहीं है ?

"है।"

"तो फिर तुम्हें प्रवृत्ति में उतर कर समाज की सेवा में क्या आपत्ति है ?"

"प्रभू। आपके कथन में सत्यता है। परन्तु इन शरीरों में आपकी शक्ति त्रिगुण को त्रिपुटी से मुक्त नहीं हो सकी है। मानव की वह समस्त शक्ति जिसे वह स्वतन्त्र रहकर विराट भगवान की सेवा में लगा सकता है, थोड़े से स्त्री, पुरुषों में फँस कर उसे क्षीण तो करता ही है वरन् स्वयम् उसकी दासता में फँस कर परवशता स्वीकार कर लेता है।"

"अच्छा। तो तुम यह समझते हो कि गृहस्थाश्रम दोष युक्त है ?"

"नहीं प्रभो। यह आश्रम तो अन्य तीन आश्रमों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है। इसी आश्रम के सहारे अन्य आश्रमों की पुष्टि होती है। परन्तु भगवान् मैं अपने बाल्य काल से अपने निकट के गृहस्थाश्रमियों को देखता चला आ रहा हूँ। इनमें मुझे एक भी परिवार ऐसा नहीं मिला जो साहस करके यह कह सकता कि मैं अपने परिवार में अत्यंत सुखी हूँ। स्वयम् मेरे परिवार में भी कोई दिन ऐसा नहीं व्यतीत होता जिसमें यह कहा जा सके कि अब सुख ही सुख है। इसी कारण से मेरी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती।'

"गोपाल ! तुम खूब समझ लो, विचार कर लो। मनुष्य को अपना जीवन पथ निश्चय करने में उतावली नहीं करना चाहिए। यह कोई बच्चों का खेल नहीं है। हाँ ! उसके निर्णय में यदि किसी संत अथवा ग्रंथ के सहारे की आवश्यकता हो तो उसे अवश्य सामने रखना चाहिये। ऐसा न हो कि जब शरीर निर्बल होने लगे उस समय अन्तस्थल में छिपी हुई किसी प्रकार की वासना जाग्रत हो। कारण यह है कि फिर उससे अगले जन्मों के संस्कार पड़ने लग जाते हैं।"

"प्रभो ! मैंने तो भली प्रकार विचार कर लिया और परामर्श भी प्राप्त कर लिया स्वयम् बड़े भइया की निष्ठा ने मुझे अपने पथ पर दृढ़ रहने का सुन्दर पाठ पढ़ाया है। बस मैं आपकी कृपा तथा अशीर्वाद चाहता हूँ।

"अच्छा ! देखो मेरी ओर।" गोपाल ने उधर मुख उठाया। सहसा इतना तीब्र चमत्कार हुआ कि नेत्र उसके प्रकाश को सह न सके। सहसा वह जाग उठा। शैय्या पर पड़े ही पड़े उसकी विचार धारा फिर प्रवाहित हो चली। जब इस तुच्छ शरीर के लिए नश्वर भोगों के जुटाने में इतनी झंझटों का सामना करना पड़ रहा है। और उसके त्याग के लिए प्रोत्साहन तो एक ओर रहा, सभी संबन्धी उसमें बाँधने में ही लगे हैं। तो भला फिर उस शाश्वत सुख की प्राप्ति में कितनी कठिनाई होगी। अब यह विचार मेरी समझ से अधिक समय तक नहीं चलना चाहिये। मैं प्रातः काल उठ कर भइया को पत्र लिख दूँगा। परन्तु क्या मैं भइया से अपने विवाह के विषय में कुछ कहूँ ! लोग क्या कहेंगे, बड़ा कलयुगी हो गया है यह बालक। मैं कुछ न लिखूँगा। समय स्वयम् सब ठीक करेगा।

इस प्रकार के न जाने कितनें विचार गोपाल के मस्तिष्क में आए और चले गए। दूसरे दिन वह अपने अध्ययन में लगा। परन्तु उस रात्रि का स्वप्न उसे न भूला। वह कभी-कभी उस पर विचार करता।

जब बहुत दिनों तक पं० गंगाधर जी को गोपाल का कोई पत्र न मिला तो उन्होंने उससे यह अनुमान निकाला कि वह संबन्ध गोपाल को स्वीकार है। अतः अधिक पूछ ताछ न करके उन्होंने विवाह की स्वीकृति दे दी और यथा समय फल दान भी चढ़ा दिया गया। धीरे २ विवाह का समय निकट आने लगा और उसका समारोह जुटने लगा, गोपाल ने सोचा कि इस बार इस द्वन्द संघर्ष को समाप्त ही कर देना चाहिए। एक दिन सायं काल के समय छात्रावास से निकल कर वह अपने कुछ मित्रों के साथ नदी के तट पर भ्रमण करने गया। जब रात्रि होने लगी तो उसके अन्य मित्रों ने लौटना चाहा। एक ने कहा—

"गोपाल! आज कल तो तुम्हारी चाँदी है।"

"हाँ भाई नौशा बनेंगे।" दूसरे ने कहा।

इतने में ही तीसरे मित्र ने कहा, "गोपाल, मिठाई मत भूल जाना। वह इन सब की गोष्ठी सुनता रहा अन्त में उसने कहा,

"कुछ मेरी भी सुनोगे या अपनी तान अलापते रहोगे।"

"हाँ कहो! क्या कहते हो।"

"मेरी शादी होगी ही नहीं।"

"अरे यह कौन सी बात है। ऐसा तो सब लोग पहले कहा ही करते हैं। परन्तु अन्तस्थल में उस महूर्त का स्मरण करके मुदित होते रहते हैं। और गोपाल यह लटके तो हम भी जानते हैं। यह सब तो तुम इस कारण से कहते हो कि कहीं

निमन्त्रण न देना पड़े। सो भाई मत देना। परन्तु ऐसी भाषा क्यों बोलते हो। भगवान करे तुम्हारा ब्याह हो और शीघ्र हो।"

इसी प्रकार का वार्तालाप होने में रात्रि और बढ़ गई निर्मल आकाश पर रात्रि के पहरू जो समस्त जगत को देखते हैं वे सितारे चमकने लगे। मित्रों ने कहा।

"गोपाल घर नहीं चलोगे?"

"तुम चलो। मैं अभी यहीं विश्राम करूँगा।"

"अभी तुम्हें यहाँ क्या अच्छा लगेगा सरिता का सुख तो दाम्पत्य में है।"

गोपाल ने कुछ उत्तर नहीं दिया और वहीं नदी के किनारे रेणुका पर विराजमान हो गया। मित्र मण्डली चली गई। चारो ओर नितान्त सन्नाटा था। हाँ! कभी कभी जल में मछलियों के उछलने से शब्द हो जाया करता था। वृक्षों पर पक्षी आराम से सोये हुए थे। गोपाल ने जल में मुँह हाथ धोये। तत्पश्चात सन्ध्योपासन में बैठ गया। वास्तव में प्रेम का आनन्द तो तब ही है जब प्रेमी और प्रेमास्पद के अतिरिक्त वहाँ कोई न हो। और उसमें भी फिर इतनी तद्रूपता प्राप्त हो जाए कि जैसे माता अपने नवजात शिशु को स्तन पान कराते समय सब कुछ भूल कर अपने और बालक में भेद भावना मिटा देती है। उस समय कहने के लिये तो दो होते हैं। परन्तु वास्तव में उस द्वैत में अद्वैत की झलक दीख जाती है।

वैसे तो भगवान के पूजन में गोपाल जी को इतनी एकता प्राप्त होती थी कि जैसी भक्त और भगवान में होनी चाहिये। क्योंकि बालक वास्तव में सच्चा भक्त था। वह यह भली भांति समझता था कि भक्त का अर्थ ही यह है कि जिसमें विभक्ति न हो। परन्तु आज उस तन्मयता में कुछ विघ्न है। गोपाल को

इसका कारण समझ में न आता था। जब कुछ और समय इसी प्रकार बीता तो उसे बड़ी ग्लानि हुई और उसका जी चाहा कि वह रो पड़े। परन्तु रोया भी न गया। वह न जाने कितनी देर इस प्रकार रहा। इतने बीच में न जाने कितने संकल्प विकल्प मन में उठे और लीन हो गए।

रात्रि अधिक हो गई। गोपाल का घर लौट जाने का कोई विचार नहीं था। वह वहीं रेती में लेट गया। कभी आँख झपक जाती कभी खुल ज.ती। चारों ओर आकाश रूपी बड़ी नाँद दृश्य को ढके थी और उसमें सितारे झिलमिला रहे थे। आकाश गंगा सीधी हो चली थी। जिससे यह अनुमान होता था कि रात्रि कम से कम आधी अवश्य बीत गई होगी। धीरे धीरे गोपाल को नींद आने लगी। अभी आँख झपकी ही थी कि सहसा पास में कुछ आहट हुई। वह तुरन्त सचेष्ट हो गया और उठकर बैठ गया उसे बड़ा आश्चर्य हुआ जब उसने देखा कि एक अत्यंत सुन्दर स्त्री पास में खड़ी है। इतने निर्जन में और इतनी रात्रि बीतने पर भला यह कौन होगी? उसके मुख पर इतना तेज था कि रजनी के तम आवरण को विनष्ट करके उसके दर्शन करा रहा था। तुरन्त प्रश्न हुआ

"तुम कौन हो?"

"मैं कोई भी हूँ। मेरे विषय में अधिक जानकारी की आवश्यकता नहीं। मुझे सब जानते हैं और गोपाल तुम भी जानते हो। यदि कुछ सन्देह है, तो वह भी नष्ट हो जाएगा। अच्छा गोपाल यह तो बताओ, कि बाल्य काल में जो तुम बड़ी बड़ी बातें किया करते थे कि मैं ही गुरू हूँ। संसार झगड़े तथा आपत्ति का केन्द्र है। तो अब तुम्हारे विचार क्या हैं। मैं तो पहले ही कहती थी कि वास्तव में मानव में जो विकार सामाजिक

जीवन में रहने से उत्पन्न हो गए हैं उनका निराकरण कहीं अलग जाकर नहीं होगा। तुम ही सोचो यदि किसी व्यक्ति को क्रोध आता है तो क्या वह उसका निरोध जंगल में वृक्षों, पशुओं, तथा पक्षियों के समाज में करेगा ? वहाँ तो नितांत असम्भव है। यही दशा अन्य दोषों के विषय में भी है! अतः सामाजिक रीतियों का विरोध नहीं करना चाहिये। अब तुम समझे। अभी तुम्हारा ब्याह होगा। तुम दाम्पत्य सुख का आस्वादन करोगे। इन्द्रिय निरोध आदि का विषय तो कठिन समस्या है।"

गोपाल के कानों ने यह सब क्या सुना। यह स्त्री भला कौन हो सकती है जो उसके विषय में इतना स्पष्ट ज्ञान रखती है।

"देवी" गोपाल ने पूछा, कुछ "अपना परिचय दो।"

"मेरा कोई विशेष परिचय नहीं। मुझे सब चाहते हैं परन्तु मैं किसी को भी नहीं चाहती। मेरी सब उपासना करते हैं परन्तु मैं किसी अन्य की उपासना करती हूँ।"

"देवी मैं कुछ नहीं समझा।"

"क्या करोगे समझ कर। थोड़े दिनों के पश्चात् जब मेरा प्रभाव देखोगे तब तुम मेरा परिचय न पूछोगे। बस मैंने अपना जाल फैलाया ही है। देखें भला तुम उससे कैसे बचोगे।" गोपाल ने उसे बड़े ध्यान से देखा। परन्तु वह स्त्री पहचानी न जा सकी। वह उठ खड़ा हुआ। सोचा, किंचित ध्यान से देखूँ तो। परन्तु इतनी देर में ही वह पीछे मुड़ी और चल पड़ी। गोपाल ने उसके पीछे चलना आरम्भ किया परन्तु उसकी गति बढ़ी और थोड़ी दूर ही चलकर वह सीधी आकाश में उठी। एक विचित्र घटना घटी। उसी समय उस स्त्री का शरीर लुप्त हो गया। एक

महान प्रकाश हुआ जिसके मध्य में अत्यंत स्वच्छ शब्दों में लिखा हुआ जान पड़ा "माया।"

यह एक अद्भुत बात दिखाई दी। और नदी के तट पर फिर वही सन्नाटा। गोपाल अपने स्थान को लौट आया रात्रि ढल चली थी। ब्रह्म महूर्त का समय निकट आ गया था उसे नींद कहाँ, वह बड़े गहरे विचार में पड़ गया। बाल्य काल से अब तक के सब दृश्य उसके मस्तिष्क में आए और चले गए। अब तत् कालीन समस्या सामने है। उसका विवाह होने पर है। एक बार भाँवर पड़ जाने पर अथवा संकल्प हो जाने पर धार्मिक तथा सामाजिक बन्धन लग जाएँगे। उसके पश्चात् स्वतंत्रता का क्या होगा यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। उसे समर्थ रामदास जी के जीवन का स्मरण हो आया। कहा जाता है कि जब उनकी माता ने बहुत अनुनय विनय किया तो समर्थ ने बिवाह स्वीकार कर लिया परन्तु यह स्वीकृति उन्होंने बड़ी विवशता से दी थी। समर्थ को दूल्हा बनाया गया। बारात बड़े साज बाज से चढ़ी। मण्डप में ब्राह्मणों ने स्वस्ति वाचन के पश्चात् मंत्र पढ़ा और कहा, "सावधान"। शब्द तो सरल था और उस समय से पूर्व अनेकों बार कहा सुना भी गया होगा परन्तु उस शब्द ने वास्तव में समर्थ को सचेत कर दिया। वह तुरन्त मण्डप से उठे। घर से बाहर आ गए। कोई समझ भी न सका कि अब क्या होगा। वह तत् काल जन मार्ग से बचकर चलने लगे और थोड़ी देर में ही अदृश्य हो गए। अन्ततोगत्वा बारात के लोग रो पीट कर घर लौट आए। माता के नेत्रों की ज्योति रोते रोते चली गई। यह सब तो हुआ परन्तु समर्थ का चौदह वर्ष तक कहीं पता न लगा।

इस समय गोपाल को भी वही शब्द याद आया। अकस्मात् हृदय से वही शब्द निकला "सावधान"। आज मस्तिष्क में एक विचित्र संघर्ष है। उसे अर्जुन की भाँति कार्पण्य दोष ने घेरा

और उसने भी किया वही जो अर्जुन ने भगवान के प्रति किया था। हृदय में उसी श्लोक की भावना जाग्रत हो गई। भगवत्प्रेम भाव में उत्कण्ठा बढ़ गई और वह फूट फूट कर रोने लगा। सहसा उसके मुख से निकला।

"प्रभू आपको किसी जीव के निमित्त सोचना नहीं पड़ता कि अब इसके लिये क्या करना है। और फिर उसे करके पश्चाताप भी नहीं करना पड़ता। अतः मेरे हित में जो भी आपने विचारा हो उसी ओर मुझे संकेत कर दीजिये।"

उषा के आगमन की सूचना पक्षियों ने देना आरम्भ कर दी। चारों ओर रजनी का साम्राज्य जो कुछ समय से छाया हुआ था उखड़ चला। संसार का अंधकार तो भुवन भास्कर दूर करेंगे। परन्तु गोपाल के मानसिक वेदना रूपी रजनी के अन्धकार को भी आज भगवान दूर करेंगे।

धीरे धीरे गोपाल की हिचकियाँ रूकीं। उसने सिर ऊपर उठाया तो उसे अपने सिर पर किसी के स्पर्श की संवेदना जान पड़ी। उसने ऊपर को दृष्टि उठाई तो एक महा पुरुष के नेत्रों से मिल गई। तुरन्त प्रश्न हुआ।

"कुछ परिचय दीजिये ?"

"मैं वही हूँ जिसे तुम बुला रहे थे।"

"इस रूप में ?"

"क्यों तुम्हें सन्देह क्यों है। क्या मैं इस रूप में नहीं हो सकता हूँ। क्या कोई ऐसा रूप भी विचारा जा सकता है जिस में मैं न होऊँ।" गोपाल चुप रह गया। थोड़ी देर तक नितांत सन्नाटा रहा। शान्ति को भंग करते हुए गोपाल ने पुनः प्रश्न कर दिया,

"मुझे प्रतीति नहीं हो रहा है। आप बता दें कि मैं आपको क्या समझूँ।"

"अभी थोड़ी देर पहले जिस स्त्री के तुम्हें दर्शन हुए थे। मैं उसका पति हूँ।"

गोपाल के कानों ने यह क्या सुना! वह स्त्री तो माया थी। क्या यह साक्षात् प्रभु आ गए हैं? क्या मैं उसी अचिंत्य, अखण्ड, शक्ति के सन्मुख हूँ? अहा! तब मेरा बड़ा सौभाग्य है। गोपाल इन्हीं विचारों में विह्वल हो गया। उस मूर्ति ने कहा "कुछ यह भी बताओगे कि तुमने मुझे क्यों बुलाया? बताओ क्या चाहते हो? एक बार खूब विचार करके माँगना। ऐसे अवसर जीवन में कम आते हैं जब कि लोग मुझसे माँग सकें और मैं दे सकूँ। यदि अब की चूके तो फिर सदा के लिये घाटे में रहोगे।" गोपाल का हृदय धड़कने लगा। आज बड़ा कठिन प्रश्न है। वह मौन हो गया। मन में आया कि यदि यह भगवान हैं तो स्वयं हृदय को जान लेंगे। परन्तु भगवान ऐसी परस्थिति सामने रखते हैं जिसमें जीव स्वयं अपने को समझ ले। थोड़ी देर में उस मूर्ति ने कहा।

"माँगो। जल्दी करो। मुझे जाना है।" भर्राई हुई आवाज से गोपाल ने कहा,

"ब्रह्म"

"और कुछ?"

"चर्य्य।"

"तथास्तु।"

गोपाल ने इस बार जो आँख उठाई तो वह कोई ना था। पूर्व दिशा में आकाश लालिमा से भर पूर था। ऐसा जान पड़ता था कि मानों रजनी ने अपने प्रियतम के चरणों में अर्पण करने के लिये सिन्दूर की डिबिया बखेर दी हो। भगवान सूर्य देव ने आकाश पर दर्शन देकर उसे स्वीकार करते हुए अपने में विलीन कर लिया। गोपाल उठा। रावी में गोता लगाया और घर की ओर चल पड़ा। वहाँ सब लोग प्रतीक्षा में थे ही। गोपाल को देख कर

बड़े प्रसन्न हुए। घर में व्याह के कारण बहुत से संबन्धी उपस्थित थे। बड़े भइया ने उसे एकान्त में बुलाया और पूछा।

"गोपाल।"

"जी हाँ कहिये।"

"कल तुम कहाँ थे। रात्रि में घर भी नहीं आए।"

गोपाल ने पिछली रात की सारी कहानी कह सुनाई और प्रार्थना की कि अब उनके व्याह के संबन्ध में वह विचार छोड़ दें। भइया ने कहा।

"अब क्या हो सकता है गोपाल! अब अस्वीकार करने का समय जाता रहा" "नहीं भइया मैं सत्य सत्य कहता हूँ कि मैं व्याह न करूँगा और यदि आपने आग्रह पूर्वक कर ही दिया तो मेरा समस्त जीवन कलुषित हो जाएगा।"

"गोपाल। क्या स्वप्न में वर्रा तो नहीं रहे हो। अब तो सब सम्बन्धी आ गए हैं। मुझे बड़ा अपयश मिलेगा। सुनो अब अस्वीकार करने का प्रश्न नहीं उठता।"

"मेरे विचार तो आपको पहले से ही विदित थे।"

"क्या तुमने यही सोचा है गोपाल? तुम तो कुल के दीपक हो। तुम्हारे ही जैसे नर भूषणों से जो सृष्टि आगे चलेगी, संसार का नेतृत्व करेगी। अतः ऐसा विचार छोड़ो और अपने उत्तर दायित्व को संभालो।"

"भइया" गोपाल ने कहा," मेरी जीवन नइया मंझधार में है और परस्थितियों के झकोरे भी लग रहे हैं। इस समय आप ही उसके कर्णाधार हैं। जब आपके द्वारा भी मुझे अपनी साध्य वस्तु के लक्ष्य की ओर सहारा न मिलेगा तो कहाँ मिलेगा।" पं० गंगाधर जी बड़े गहरे विचार में डूब गए। उनकी समस्त आशाओं पर पानी पड़ता सा जान पड़ा। वह अब माँ को क्या

उत्तर देंगे और जो बहुत से स्वजन एकात्रित हुए हैं, वह क्या कहेंगे । "आपसे आग्रह करना पाप है। आप पूज्य हैं। क्षमायाचना सहित मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि पहले आप उस मार्ग पर चलें फिर मैं भी आपका अनुकरण करूँगा ।" पंडित गंगाधर जी बड़े असमंजस में पड़ गए गोपाल के मुख की ओर ध्यान से देखने लगे सहसा उनकी समझ में कोई उचित उत्तर न आया फिर भी वह बोले,

"गोपाल ! मैंने तो विवाह किया था"

"क्या मैं यह जान सकता हूँ कि आपका अब क्या अनुभव है । वह जीवन सुखमय था या अब निश्चिन्तता में बीतता है ।"

गंगाधर पण्डित ने तो पहले से ही संकल्प कर लिया था कि अब वह पुनः गृहस्थी के जाल में नहीं पड़ेंगे। अब वह किस प्रकार से गोपाल से उस कार्य के लिये कहें वह चुप रह गए। माँ के पास चले गए और सब बृत्तान्त सुना दिया। माता सिर पकड़ कर बैठ रही। उसकी समस्त आशाओं पर मानों पाला पड़ गया।

कईप्सितार्थ दृढ़निश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्

दृढ़ संकल्पी को कोई अपने पथ से हटा नहीं सकता। मानव की अपनी ही मानसिक दुर्बलता उसे अपने संकल्पों से गिरा कर जीवन में नीचे गिराती है। मनुष्य को चाहिए कि पथ भ्रष्ट हो जाने पर भी साहस न छोड़े। ईश्वर के प्रति विनम्र भाव से प्रार्थना करे। उसे साहस मिलेगा, उत्साह बढ़ेगा और वह पुनः उन्नतिशील हो जाएगा।



इस मर्म को गोपाल ने भली प्रकार से समझा था जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। किन्हीं कारणों से लाहौर स्थित विद्यालय छोड़कर उसे स्यालकोट के उच्चतम विद्यालय में जाना पड़ा। कुमार अवस्था ने युवावस्था की ओर पदार्पण कर लिया था। शरीर गौर वर्ण, मुखाकृति ब्रह्मचर्य्य के कारण देदीप्यमान तथा समस्त शरीर के अङ्ग उपाङ्ग सुन्दर थे। उनके रूप का विद्यालय के अन्य विद्यार्थियों पर विलक्षण प्रभाव पड़ता था। घण्टों वह इन से शरीर संगठन के विषय पर वार्तालाप किया करते थे। गोपाल उन्हें ब्रह्मचर्य्य का महात्म बताते और बड़ी दृढ़ता से कहते कि धर्म शास्त्रों में ब्रह्मचर्य्य के विषय में जो कुछ भी लिखा हो उसके प्रमाण में उनका शरीर साक्षात् उदाहरण था।

दिन बड़े चैन से कटते थे विद्याभ्यास भी सुचार रूप से होता था। अक्स्मात् एक दिन उन्हें द्रुतगामी तार द्वारा यह सूचना मिली,

"Brother dangerously ill, moment's delay never be mended"—Rajbal

गोपाल के नेत्रों ने यह क्या देखा और कानों ने क्या सुना। कुछ समय के लिये वह मूर्तिवत् हो गया। एक साथी ने उसे चैतन्य करते हुए कहा,

"गोपाल, क्या हाथी के दाँत खाने के और, और दिखाने के और होते हैं यहसत्य है? कहाँ तो बड़ी बड़ी हाँका करते थे, और इतने छोटे तार से डर गए और यदि कहीं मोटी रस्सी होती तो क्या होता?"

"भाई कहने और करने में बड़ा अन्तर होता है" दूसरे नेकहा। अपने मित्रों की यह बातें गोपाल को अच्छी न

तप

It is easy to live in the world after the world's opinion, it is easy to live in solitude after our own. But a true great man is he, who lives in the world after his own opinion and enjoys solitude in multitudes.

अर्थ—यह सहज बात है कि संसार में रह कर संसार के कहने पर चला जाए और यह भी सुगम है कि जंगल में रहकर अपनी इच्छा पर चले, परन्तु वास्तविक महात्मा वह ही है जो संसार में रहकर अपनी चाल पर चले और समष्टि में व्यक्तिगत रहे अर्थात् समूह में प्रत्येक समय निरपेक्ष रहे।

मनुष्य संस्कारों का पुञ्ज है। जिस समय जीवात्मा शरीर परित्याग करता है वह सूक्ष्म शरीर के साथ जीवन में किये गए, सुख दुख कर्मों के बीज रूप संस्कारों को लेकर ही शरीर छोड़ देता है। भगवान अपनी न्याय शीलता तथा दयालुता का परिचय देते हैं, और उस प्राणी को ऐसे माता पिता, परिवार, समाज तथा देश के निकट पहुँचा देते हैं जहाँ वह विकास प्राप्त कर सके। वह कुछ निर्माण कर सके।

मनुष्य योनि ही एक ऐसी योनि है जहाँ प्राणी पूर्व कृत कर्मों का उपभोग तथा नवीन कर्मों का निर्माण भी कर सकता है। शेष अन्य स्थानों में निर्माण सम्भव नहीं है वहाँ केवल भोग ही होता है। इन योनियों में ऐसे कर्म-नहीं बनते जो बन्धन के कारण हो सकें। वहाँ पर तो वह भोग के पश्चात समाप्त हो जाते हैं।

प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि क्या उन्नति सम्भव नहीं है इस दशा में? ऐसे प्रश्न पर जब गम्भीरता पूर्वक विचार करते हैं तो

मनोवैज्ञानिक ढंग से दो प्रधान कारण ज्ञात होते हैं और तीसरा जो इन सबसे बड़ा जान पड़ता है वह है ईश्वरी कृपा। इसी कारण से हमें उपरोक्त वर्णित अन्य दो कारण भी जान पड़ते हैं। भव सागर में हमें आगे बढ़ना है भगवान हमें उसी प्रकार की नैया प्रदान करते हैं जो हमारे संस्कारों के अनुकूल पड़े। यह है पहली बात। दूसरी बात यह है कि वह हमें उसी प्रकार का परिवार दे देते हैं। इन्हें प्रायः हम पैतृत संस्कार तथा वातावण के नाम से पुकारते हैं। इसके साथ में मनुष्य जब पुरूषाथ का पुट लगा लेता है वह शीघ्र ही उत्थान के पथ पर अग्रसर ही नहीं वरन् बहुत आगे बढ़ने लगता है।

वातावरण का प्रभाव न केवल हमारे बाह्य जीवन पर पड़ता है, वरन हमारे आन्तरिक विचारों पर भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है। संस्कारों को परिवर्तन कर देने की महान शक्ति भगवान तथा उनके भक्त में है। यही कारण जान पड़ता है कि वाल्मीक डाकू से ऋषि पद पर पहुँचे। ऐसे ही स्थानों से सत्यसंग तथा सन्तों का माहात्म्य प्रकट होता है। कवि कुल श्रेष्ठ गोस्वामी तुलसीदास जी के शब्दों में देखिये—

मति, कीरति, गति, भूति भलाई।
जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥
सो जानव सत्सङ्ग प्रभाऊ।
लोकहु वेद न आन उपाऊ॥

इसमें किसी व्यक्ति विशेष की तो बात नहीं है जो भी कोई सत्सङ्ग करेगा उसके फलस्वरूप उपरोक्त सब वस्तुए प्राणी को मिलेंगी। यह सत्सङ्ग बड़े भाग्य से मिलता है। परन्तु मिलता अवश्य।

इस मर्म को गोपाल ने भली प्रकार से समझा था जैसा कि हम आगे चल कर देखेंगे। किन्हीं कारणों से लाहौर स्थित विद्यालय छोड़कर उसे स्यालकोट के उच्चतम विद्यालय में जाना पड़ा। कुमार अवस्था ने युवावस्था की ओर पदार्पण कर लिया था। शरीर गौर वर्ण, मुखाकृति ब्रह्मचर्य्य के कारण देदीप्यमान तथा समस्त शरीर के अङ्ग उपाङ्ग सुन्दर थे। उनके रूप का विद्यालय के अन्य विद्यार्थियों पर विलक्षण प्रभाव पड़ता था। घण्टों वह इन से शरीर संगठन के विषय पर वार्तालाप किया करते थे। गोपाल उन्हें ब्रह्मचर्य्य का महात्म बताते और बड़ी दृढ़ता से कहते कि धर्म शास्त्रों में ब्रह्मचर्य्य के विषय में जो कुछ भी लिखा हो उसके प्रमाण में उनका शरीर साक्षात् उदाहरण था।

दिन बड़े चैन से कटते थे विद्याभ्यास भी सुचार रूप से होता था। अक्स्मात् एक दिन उन्हें द्रुतगामी तार द्वारा यह सूचना मिली,

"Brother dangerously ill, moment's delay never be mended"—Rajbal

गोपाल के नेत्रों ने यह क्या देखा और कानों ने क्या सुना। कुछ समय के लिये वह मूर्तिवत् हो गया। एक साथी ने उसे चैतन्य करते हुए कहा,

"गोपाल, क्या हाथी के दाँत खाने के और, और दिखाने के और होते हैं यहसत्य है? कहाँ तो बड़ी बड़ी हाँका करते थे, और इतने छोटे तार से डर गए और यदि कहीं मोटी रस्सी होती तो क्या होता?"

"भाई कहने और करने में बड़ा अन्तर होता है" दूसरे नेकहा। अपने मित्रों की यह बातें गोपाल को अच्छी न

लगतीं। उसने जैसे तैसे अपने सामान को सुरक्षित रख दिया और घर पहुँचा। जैसे २ पग आगे धरता था अधीरता बढ़ती जाती थे हृदय बैठा जाता था। मार्ग में कोई ऐसा भी अपना न मिला जिससे सब कुशल पूछी जा सकती। घर के समीप पहुँच कर उसे एक बूढ़ी स्त्री मिली गोपाल ने पूछा,

"माँ मेरे घर के लोग कहाँ हैं।"

"बेटा क्या कहूँ। तुम कहाँ थे। पंडित बहुत बीमार हैं और हस्पताल में हैं।"

"आपको उनका कुछ और हाल मालूम है?"

"नहीं बेटा। मैं कल देखने गई थी। वह ज्वर के वेग से हाँप रहे थे। कभी २ पहचान लेते थे और कभी नहीं जान पाते थे।"

गोपाल अपने को संभाल न सका और रो पड़ा। उस स्त्री ने बड़ा ढारस बन्धाया। वह वहाँ से सीधा हस्पताल पहुँचा। वहाँ दशा बड़ी भीषण थी। पं० गंगाधर की दशा अत्यंत शोचनीय थी। उनके प्राण पखेरू जर-जर शरीर पिंजर को छोड़ना चाहते थे। डाक्टरों ने मृत्यु से होड़ ले रखी थी। बड़ा भीषण संघश था। पण्डित जी का शरीर ही उनका रण स्थल था। जैसे ही कोई नया रोग दिखाई देता वह तुरन्त सूई लगा देते। वह दब जाता। परन्तु मृत्यु के सेना नायक दूसरा सिपाही सन्मुख कर देते।

गोपाल रोगी को तुरन्त देखना चाहता था परन्तु उनके पास जाने की आज्ञा किसी को भी नहीं थी। कुछ समय तो उसने प्रतीक्षा की। परन्तु भ्रातृ स्नेह ने उसे विवश कर दिया। और डाक्टरों के रोकने पर भी वह अन्दर चला गया। भाई की दशा पर करुणा उमड़ पड़ी। गोपाल अपने को रोक न सका

और फूट-फूट कर रो पड़ा। उसके रोने पर और लोग भी रो पड़े। मानो विरह सशरीर उपस्थित हो गया हो। डाक्टरों ने जहाँ किसी को जाने की आज्ञा नहीं दी थी वहाँ इतना शब्द ! एक ने कहा,

"क्यों रोते हैं आप लोग ?"

और किसी का साहस उत्तर देने का तो हुआ नहीं। गोपाल ने भर्राई आवाज़ में उत्तर दिया,

"इस कारण से कि रोना आता है।"

"आपका मतलब ?"

"मतलब कुछ नहीं, यह रोना स्वाभाविक है। यह वह समय है जब बड़े २ ब्रह्मज्ञानी भी टिक नहीं पाते हैं"। महा प्रयाण के समय वियोगाग्नि से मनुष्य तप्त हो जाता ह ! "क्या ऐसा भी हो सकता है कि कोई इस समय भी न रोये ?"

गोपाल के अश्रु बन्द हो गए। मुद्रा बदल गई। गम्भीरता को स्थिर किये हुए उसने धीरे से कहा,

"हाँ डाक्टर साहब इस समय वह ही नहीं रोता जो मैं से परे अर्थात् प्रेम के प्रागंण में उतर चुका है"

डाक्टर महोदय को इतने ऊंचे उत्तर की आशा नहीं थी। वह गोपाल के मुख की ओर देखता रहा। माँ से पूछा "यह कौन हैं ?"

"यह आपका छोटा लड़का है।"

उन्होंने गोपाल की प्रखर बुद्धि की भूरि-भूरि प्रसंशा की।

भगवान् जब किसी को अपनी ओर खींचते हैं तो इधर से भली प्रकार कसते हैं। गोपाल को अपने पिता तुल्य बड़े भ्राता

के अन्तिम समय में उपस्थित होना भाग्य में नहीं था। उसी परस्थिति में गोपाल का चित्त इतना दहल गया कि उसे कई दस्त आ गए और ईक एक वमन भी हो गए। डाक्टरों ने राय दी कि इन्हें हैजा हो गया है। अत: इन्हें यहाँ से हटा देना चाहिये। मां ने कहा,

"श्रीमान् जी मेरा घर तो आज कल हस्पताल है। जहाँ चाहिये रखिये।"

"यहाँ ऐसे रोगी तो रखे नहीं जाते।

"वह बड़ा डाक्टर जो सारे संसार का महान् चिकत्सक है वह ऐसे मरीजों को तो बाहर कभी नहीं करता?" गोपाल ने कहा।

"मुझे बहस अच्छी नहीं लगती" डाक्टर ने उत्तर दिया, "इस वेश में त्याग की बातें अच्छी नहीं लगतीं। त्याग करना आसान नहीं है।"

गोपल ने उत्तर दिया "त्याग सरल है ग्रहण कठिन है।"

इस प्रकार की बातें होती रहीं। पं० गंगाधर जी के साथ साथ गोपाल की भी दशा बिगड़ी। विधाता ने माँ की गोद का एक लाल अपने पास बुला लिया। पं० गंगाधर जी की आत्मा चिर शान्ति में लीन हो गई और उनके पांचभौतिक कलेवर को यहीं छोड़ गई। इधर गोपाल का भी स्वास्थ शोचनीय हो गया। घर का धन तो रोग के कारण विदा हो ही चुका था। संबन्धियों, मित्रों, तथा अन्य व्यक्तियों की ऐसे समय में ही परीक्षा हो जाती है यह लोग पहले तो गोपाल के घर आए परन्तु घर में दरिद्रता का साम्राज्य देखकर चले गए। महान् प्रयास के पश्चात गोपाल को किसी प्रकार इस संक्रामक रोग से निरोगता मिली परन्तु अब वह अत्यंत दुर्बल हो गया था। गंगाधर पण्डित के देहावसान

के कारण घर में आय का द्वार तो बन्द हुआ, पर व्यय का कुछ अधिक बढ़ने लगा। धीरे धीरे मां को अधिक चिन्ता ने घेरा। कुटुम्ब के लोग तथा स्वजन उपेक्षा करने लगे। ऐसा जान कर गोपाल काश्मीर गए। काश्मीर के राज्य दरबार में वह तुरन्त आकृष्ट हुए। महाराज ने एक दिन पूछा

"कहाँ रहते हो तुम ?"

"जहाँ सब रहते हैं।" साधारण सा उत्तर गोपाल ने दिया।

"भला यह भी कोई उत्तर है ?"

"क्यों इस में असत्य क्या है ? उस ईश्वर की सृष्टि में जहाँ सब रहते हैं मैं भी रहता हूँ।"

"क्या तुम जानते हो कि किस के सामने वार्तालाप कर रहे हो ?"

"हाँ ! मैं अपने को भली प्रकार समझता हूँ और काश्मीर नरेश के सामने हूँ।

"फिर ऐसा क्यों बोलते हो ?"

"यह निर्भीकता का चिन्ह है।"

महाराज मनुष्य परखना जानते थे। गोपाल के उत्तर से रुष्ट नहीं हुए। दरबार में एक स्थान पर नियुक्त किया और उनकी कार्य कुशलता को देखकर शीघ्र ही धन तथा पद में वृद्धि कर दी।

गोपाल की यह बढ़ती हुई ख्याति उसके हित में नहीं जान पड़ी। थोड़े ही काल में जब लोगों को विदित हुआ कि वह अभी अविवाहित हैं तो कुछ लोग पुनः इस कार्य के लिये उद्यत हुए और ऐसा प्रयत्न किया कि महाराज भी उस ओर रुचि लेने लगे। विवाह के प्रति गोपाल की उपरामता से मां को मानसिक कष्ट तो था ही। एक बार फिर जब वह प्रश्न उठा तो

माता के हृदय में आशा की लहर दौड़ गई। उसने सोचा कि स बार सम्भव है सफलता मिल जाए। क्षण मात्र के लिये वह इस विचार में निमग्न हो गई। गोपाल को कुछ विदित न हो पाया। धीरे धीरे सब कार्य सम्पन्न होने लगा। सगे, स्वजन मित्र म डली के लोग सभी जुटे। मां ने गोपाल को काश्मीर से बुला भेजा। घर में भीड़ देखकर उसने एक व्यक्ति से पूछा क्या कोई उत्सव होने वाला है?"

उसने उत्तर दिया "बड़े भोले जान पड़ते हो। आज कल के युग में लोग बहुत पहले से जान जाया करते हैं। फिर तुम तो बड़े प्रवीण हो।

"मुझे कुछ नहीं मालुम" गोपाल ने कहा, "मुझ से सब छिपा रक्खा है।

मां समझती थी कि प्रश्न कठिन है उसने सोचा था कि कोई बात नहीं अवस्था थोड़ी बढ़ गई है। उपनयन संस्कार के बहाने गोपाल को सगाई के लिये एक बार फिर उत्साहित करेगी। यह अभिप्राय था। गोपाल ने परस्थिति को क्षण मात्र में समझ लिया यह बात गोप.ल को अच्छी नहीं लगी। उसने अपने विचारों को छिपाए रखा किसी पर स्पष्ट नहीं किया। घर में एक विशाल उत्सव रचा गया। समय आने पर संबन्धियों तथा मित्रों का सम।ज जुटने लगा। घर में बड़ी चहल पहल थी। आमोद प्रमोद की सामिग्री पर्याप्त थी। परन्तु गोपाल की मुद्रा बड़ी गम्भीर थी। उसके मस्तिष्क में पहले के विचार, माया की झाँसा पट्टी, उसकी पराजय, भगवान का सन्देश, सब कुछ उसने सोचा। बड़ी भीषण परस्थिति सामने थी। इतने लोगों को कैसे उत्तर दे मिलेगा? किस किस का मुँह बन्द किया जाएगा। एक बार फिर भगवान से प्रार्थना की और बड़े सच्चे दिल से। प्रभू सच्चे

आस्तिक भक्त को सदैव ऊपर उठाने का एक प्रकार से प्रण ही किये हैं। उधर से तुरन्त सांत्वना मिली।

"वत्स ! अधीर मत हो। तुम्हें बहुत बड़ा काम करना है। तुम्हें भौतिक पदार्थ बाँध नहीं सकते। परन्तु हाँ ! सावधान रहना। यदि तुम स्वयं विचलित हुए तो फिर फँस जाओगे। अन्यथा तुम्हारा मार्ग ठीक है। उठो ! अपनी शक्ति को पहचानो और क्षुद्र विचारों पर विजय प्राप्त करो।

गोपाल को बड़ा साहस मिला। उपनयन संस्कार हो गया। परिवार के लोग धीरे धीरे विदा होने लगे। माता ने विवाह की बात ठीक कर ली थी। परन्तु जब तक गोपाल की स्वीकृति न मिले वह उसे स्वीकार कैसे कर ले। एक दिन उसने गोपाल को छेड़ा।

"बेटा !

"हाँ मां।

"बेटा जब बालक इस अवस्था पर पहुँचता है, तब मां क्या चाहती है। उसे अपने बालक का जीवन साथी ढूँढ़ देना चाहिये। मैं वृद्ध हो गई हूँ। मुझे घर का भार भी किसी को सौंपना है। साधारण रूप से यहाँ की यही रीति है। कन्या बहू बनती है। बहू सास बनती है और सास एकान्त साधन करके जीवन सुख प्राप्त करती है।

"मां ! एक सा मार्ग सबके लिये अनुकूल नहीं हो सकता। वह बात सत्य है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह सबके लिये हितकर हो। आपको यही तो भय है ना कि घर कौन देखेगा। अत: कौन करेगा आपकी सेवा। इस प्रश्न को आप न उठाएँ यदि यह शरीर आपका ही है तो आपके काम आएगा। मैं स्वयं

आपकी सेवा करूँगा* । माँ ! मैंने तुझे कभी उत्तर नहीं दिया अतः मुझे किसी बात के लिये विवश मत कर । माँ का मुख उदास हो गया । वह समझ गई कि भविष्य क्या होगा । परन्तु करती क्या । गोपाल ने अपने मन को स्थिर करने के विचार से एकान्त वास का संकल्प किया और एक दिन चुपचाप घर से चल पड़े और काश्मीर पहुँचे वहाँ नौकरी से त्याग पत्र देकर उत्तरा खण्ड की महान् यात्रा का विचार किया । जीवन में यह पहला अवसर था इस प्रकार का । पहले कुछ दिन तो कष्ट हुआ परन्तु फिर चित्तवृत्ति ने भगवान के इस आश्वासन के सहारे कि ।

अनन्याश्चिंतयन्तो माम्
ये जनाः पर्युपासते ।
तेषाँ नित्याभियुक्तांन ।
योग क्षेमं वहाम्भहम् ॥

स्थिरता प्राप्त की । थोड़े दिनों की यात्रा के पश्चात बस्तियाँ छूट गईं । हिमिगिरि का शिखर दिखाई देने लगा । उन्हें देखकर पाण्डवों की याद आने लगी । कभी इन्हीं पर्वतों में भीम अर्जुन द्रोपदी आदि ने अपने पांच भौतिक कलेवरों को गला दिया था । कायर इस स्थान से डरते हैं परन्तु साहसी तथा त्यागी, उस प्रभू के प्रेम में तड़पने वाले यहाँ बड़ा सुख पाते हैं । गोपाल ने हिमालय की तराई वाले जंगलों में प्रवेश किया । अब दशा विलक्षण थी । मनुष्यों के दर्शन तो बहुत दूर हो गए हाँ जंगली जानवर अवश्य कभी कभी मिल जाते थे । उसके मन से समस्त वासनाएँ विदा हो गई थीं । मन शान्ति के क्षेत्र में आगे बढ़ चुका था अब द्वन्दों

---

* श्री स्वामी जी ने माता के देहावसान के समय इतनी सेवा की कि एक आदर्श उपस्थित कर दिया । उनके शौचादि को स्वयम् उठाते थे । और उनकी अन्तेष्ठी भी आपने की ।

से परे था। चलते चलते एक नदी के पुनीत तट पर गोपाल ने निबास करने का विचार किया। जल वायु का सुपास था। जैसा कि कहावत है "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" उसे पूर्व जन्मार्जित साधनों का अनायास स्मरण हो आया उसने आसन को स्थिर किया और फिर अष्टागं योग के स्तरों में विचरण किया। भगवान का सच्चा प्रेमी साधक उनके ध्यान में ऐसा तल्लीन हो गया कि पूर्ण स्थिरता प्राप्त हो गई। उसे समाधि का सुख मिलने लगा। एक दिन की बात है कि गोपाल नदी में स्नान करने गया था। नदी की ओर जो दृष्टि की तो एक मनुष्य का शरीर बहता दिखाई दिया। पहले तो यही अनुमान हुआ कि मुर्दा होगा परन्तु थोड़ी देर में यह भ्रम जाता रहा। उसने लपक कर उसे सहारा दिया और जल से बाहर किया। प्रभू की इच्छा, उसे अभी गोपाल से भी कुछ सीखना था। वह शीघ्र ही स्वस्थ हो गया। अब तो वह भी साथ में रहने लगा एक दिन गोपाल ने उससे पूछा।

"सुनाओ नदी में कैसे पड़े।"

"क्या कहूँ महाराज। वह एक लम्बी कथा है जिसके सुनने से व्यथा होगी। उसे आप न सुनें।"

परन्तु आग्रह करने पर उसने संक्षेप में यह बताया कि वह ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ था। बाल्य काल में कुसंग में पड़ कर वह भ्रष्ट हुआ उसके आचरण बिगड़े और बड़ा होने पर वह डाकू हो गया। धीरे धीरे उसके हृदय से दया विदा हो गई और किसी के प्राण लेने में उसे किंचित भय न होता था। उसने कहा कि उसे ऐसा करते करते बहुत समय बीता। जब पाप का घड़ा बहुत भर गया और उसके छलकने का समय निकट आया तो काल उस पर रूठा और वह एक दुर्घटना में फँसा। उसके शत्रुओं की कमी तो थी नहीं। उन्होंने वही किया जो उसने दूसरों के साथ किया

था। अपनी समझ से विपक्षियों ने उसे मौत के घाट उतार ही दिया था और उसे नदी में डाल दिया था। परन्तु उस न्यायकारी ईश्वर ने उसे कम दण्ड दिया। उसे मर जाना चाहिये था परन्तु वह मरा नहीं। और अचेत दशा में न जाने कितनी दूर बहा और जल जन्तुओं ने भी उसे नहीं छेड़ा। न जाने उस नदी के जल में क्या शक्ति थी जो उसने शरीर की पीड़ा हर ली और उसे एक फिर अवसर मिला कि वह अपने कलमषों को धोकर कुछ भजन करले। उसने गोपाल को बहुत बहुत धन्यवाद दिया और कहा कि इस जीवन रक्षा के लिये, जो गोपाल की ओर से उसे उस निर्जन में जहाँ मनुष्य की स्वप्न में भी कल्पना नहीं की जा सकती थी मिली, वह गोपाल का आजीवन आभारी रहेगा ऐसी उसकी धारणा थी। उसने कहा कि उसका नया जन्म हुआ था। विपक्षियों द्वारा पहुँचाए गए आघात की पीड़ा ने उसके नेत्र खोल दिये थे। गोपाल के पास पहुँच कर उसकी वही दशा हुई जो वाल्मीक की नारद के प्रति हुई थी। उसके किसी जन्म का पुण्य उदय हो आया था उसने निश्चय कर लिया कि अब वह गोपाल की सेवा करेगा। दोनों व्यक्तियों को वहाँ रहते रहते बहुत दिन बीत गए। वह गोपाल को महात्मा कहने लग गया था एक दिन उसने महात्मा से पूछा।

''मनुष्य सुख के लिये सैकड़ों उपाय करता है। परन्तु उसे सुख क्यों नहीं मिलता ?''

"इस कारण से कि वह उसे वहाँ ढूँढ़ता है जहाँ वह है नहीं" गोपाल ने उत्तर दिया। इस उत्तर से उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसकी समझ में न आया। उसने फिर पूछ दिया, कि उसे ऐसा नहीं जान पड़ता। गोपाल ने सोचा कि यह संकेत नहीं समझा। उसने कहा यह बात जल्दी समझ में नहीं आती। धीरे धीरे आ जाएगी। एक दिन जब वह गोपाल के साथ नदी में

स्नान करने गया तो उसे नदी के स्वच्छ जल के भीतर एक बड़ा सुन्दर जड़ाऊ हार दिखाई दिया। उस से रहा न गया। वह तैरना जानता था। चट से जल में कूद पड़ा। स्वास रोक कर गोता लगाया। देर तक उस हार को ढूँढ़ता रहा परन्तु हार न मिला। खीज कर बाहर निकल आया। बाहर से देखने पर हार वहीं दिखाई देता था। उसने एक बार फिर प्रयास किया परन्तु निष्फल रहा। गोपाल उसके इस कृत्य को देख रहा था उसे सब दशा ज्ञात थी। अन्त में उसने उससे पूछ दिया।

"क्या बात है ?"

"कुछ नहीं"। उसने उत्तर दिया, "इस नदी में किसी का हार गिर गया है। मैंने सोचा निकाल लिया जाए। बाहर से तो दीखता है परन्तु अन्दर घुसने पर मिलता नहीं है।"

गोपाल ने मुसकराते हुए कहा, "जरा ऊपर देखो ध्यान से।"

उसने ऊपर देखा परन्तु कुछ न दिखाई दिया।

"मुझे कुछ नहीं दिखाई देता।"

"ध्यान से देखो मेरी उंगली की सीध में।"

"अच्छा! अब देखा, हार तो वहाँ है। बस मैं अभी लाया।" ऐसा कह कर जैसे ही वह चलने वाला था कि गोपाल ने कहा "ठहरो मेरी बात सुनो।"

"वह हार नहीं है। वृक्ष की सूखी पत्तियों का ऐसा झुरमुट है कि हार का आकार बन गया है।"

उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने एक बार पानी में फिर झाँका। हार का सा प्रति बिम्ब उसमें ठीक उसी प्रकार से दिखाई दे रहा था। गोपाल ने उस से कहा।

"उस दिन जो मैंने तुम से कहा था कि तुम सुख को वहाँ नहीं ढूँढ़ते जहाँ वह है। तुम उसे वहाँ ढूँढ़ते हो जहाँ उसका आभास जान पड़ता है। इसी कारण से सुख नहीं मिलता। वास्तव में वस्तु के जान लेने पर उसका अस्तित्व विलीन हो जाता है और तत्त्व की बात नाम रूप की उपाधियों से अलग दिखाई देने लगती है।"

उस बेचारे को क्या मालुम था। वह कुछ सोचने लगा। गोपाल ने कहा कि यह बातें कहने में आसान हैं परन्तु बिना अभ्यास के समझ में कठिनता से आती हैं।

समय परिवर्तन शील है। संसार में पांच भौतिक तत्त्वों द्वारा बनी वस्तुओं में उलट पलट इसी की कृपा से होता है। काल की गति के ही कारण आज बहुत सी सच्ची बातें केवल कहानी मात्र हो गई हैं। गोपाल के चित्त में तो आध्यात्मिक लाभ उच्चतम हुआ परन्तु पहाड़ी स्थान के जलवायु ने शरीर पर अपना प्रभाव डाला। पाचन शक्ति में विकार ने जन्म लिया। कुछ दिन तो जैसे तैसे बीते अन्त में गोपाल ने उस व्यक्ति से कहा,

"अब तुम्हारे अन्दर कोई संशय तो नहीं है।"

"और तो कुछ नहीं है महात्मा" मैं यह सोचा करता हूँ कि मुझे क्या करना चाहिये।"

"अब तुम क्या करना चाहते हो ?"

"मैं तो कुछ नहीं करना चाहता हूँ।"

"क्या आलसी बनकर जीवन यूँ ही खो देना चाहते हो ?"

वह व्यक्ति चुप रह गया। शान्ति भंग करते हुए गोपाल ने कहा कि "तुम अपने घर लौट जाओ। जीवन भर के कृत्यों के कारण जिस प्रकार के संस्कार बन गए हैं उन्हीं के सहारे तुम काम करोगे। मेरे विचार से तुम अपने जीवन निर्वाह के निमित्त

हलका सा कार्य कर लो और उस प्यारे की सेवा करो जिस ने तुम्हें पुनः जीवन दिया है।''

"महात्मा! उसकी सेवा का सर्वोच्च साधन क्या है?"

"मेरे तेरे के भाव मिटा कर दुखी जीवों के दुख मिटाने में अपने पुरुषार्थ को व्यय कर दो। एक बहुत सरल सी बात है जो जीवन भर याद रखना वह यह है कि ऐसा कोई काम न करना जो तुम स्वयं नहीं चाहते कि लोग तुम्हारे साथ करें। अब तुम जाओ। और मैं भी नीचे उतरूँगा।

गोपाल ने उस व्यक्ति को विदा किया वह हर्ष शोक युक्त वहाँ से विदा हुआ। गोपाल का स्वास्थ बिगड़ चला। जठराग्नि मन्द हो गई। भोजन की रुचि चली गई। इसी कारण से शरीर में रक्त प्रवाह कम हो गया और जल की मात्रा बढ़ने लगी। शरीर पीला पड़ने लगा। रक्त के दस्त होने लगे। आप ने अपनी मस्ती में यह पद गाया,

"खुद भी बने होलैली इसकी ख़बर नहीं है।लेकिन हमें तो तुम ने, मजनूँ बना के छोड़ा।''

पहाड़ से उतर कर गोपाल मेरठ पहुँचे वहाँ उनकी बड़ी भगिनी जिनका भी गोपाल ने दुग्ध पान किया था रहती थी। गोपाल के गृह त्याग के कारण सब लोग बहुत दुखी थे। यह बेचारी नित्य ही भगवान सूर्य देव से प्रार्थना करती।

"सूर्य देव! आप तो अवश्य देखते होंगे कि मेरा गोपाल कहाँ है। अच्छा जहाँ भी हो अच्छा रहे। हम अभागे क्या कभी फिर उसका मुख देखेंगे? देव! न जानें किन पुण्यों से मुझे वह मिला था। मिल कर भी बिछुड़ गया। मैं अंजली पसार भिक्षा मांगती हूँ कि आप उसे फिर दिखावें।''

बहिन का यह नित्य का कर्म था। देवताओं में शक्ति होती हैं। वह प्रगट भी होती है परन्तु मनुष्य को पहले निष्काम

दृढ़व्रती होकर शुद्ध से संकल्प करना चाहिये।

सहसा एकदिन उसकी एक सखी ने कहा "बहिन ! मुझे ज्ञान पड़ता है द्वार पर एक साधू बैठे हैं, वह गोपाल हैं।"

वह उस समय गोबर से घर लीप रही थी। बड़ी निराशा से उसने उत्तर दिया।

"हाँ गोपाल अवश्य होगा ! जिसकी कहीं खोज नहीं। वह कहाँ से आएगा ! मेरे ऐसे भाग्य कहाँ ?

"नहीं २" मुझे भ्रम नहीं है। वह अवश्य ही गोपाल हैं।

सहसा उसका बायाँ नेत्र फड़का। उसने सोचा देखने में क्या आपत्ति है। प्रातःकाल का समय था लगभग आठ बजे होंगे भ्रातृ स्नेह से कातर होकर वह बाहर आई। सामने एक युवक को देखा। यद्यपि तप के कारण चेहरा देदीप्यमान था। सिर में जटाएँ दाढ़ी बढ़ी हुई। हाथ में एक कमन्डल शरीर पर एक वस्त्र परन्तु रोग के कारण शरीर पीला पड़ गया था। पेट भी थोड़ा बढ़ गया था। उसे भ्रम हो गया कदाचित यह गोपाल हों तुरन्त प्रश्न करदिया।

"तुम गोपाल तो नहीं हो ?"

"हाँ ! सभी तो गोपाल हैं। मुझे भूख लगी है कुछ खिलाओगी ?"

गोपाल की बोली से बहिन ने उन्हें पहचान लिया फिर क्या था। दौड़ कर गोपाल से लिपट गई। और अश्रुओं से उनके कन्धे को भिगो दिया। वह इतना रोई कि हिचकी बँन्ध गई। ढारस देते हुए गोपाल ने उसे उठाया और क्षेम कुशल पूछी।

उसने बहुत आग्रह पूर्वक कहा कि घर चलो। परन्तु गोपाल घर नहीं गए। विवश होकर वह घर से कुछ भोजन सामग्री ले आई। गोपालजी ने उसे कमन्डल में डाल लिया। बहिन ने कई डाकटरों को दिखाया परन्तु कोई लाभ न हुआ और वह वहाँ से चल पड़े भ्रमण करते हुए दैव योग से जन्म स्थान पहुंचे। माँ से लोगों ने कहा "गोपाल आए हैं।"

माँ की दशा का अनुमान लगाना कठिन था। गोपाल के वियोग में माता के नेत्रों ने शक्ति खो दी थी । शरीर जर्जर हो गया था। भोजन छूट गया था। अचानक इन शब्दों ने उसके हृदय में कोलाहल उत्पन्न कर दिया। वह धड़कने लगा

"गोपाल आए है ?" यह उसके कानों ने क्या सुना । उसने धीरे से पूछा।

"भइया तुम कौन हो ! क्या कहते हो ?"

"माँ ! गोपाल आए हैं ।"

"गोपाल ? "

"हाँ माँ गोपाल ।"

इतने में ही उसे किसी के चरणस्पर्श करने की आहट मिली। उसने हाथ बढ़ाया।

"वह गोपाल की दाढ़ी पर पड़ गया, साहसा वह चौंकी।"

"तुम कौन हो ?"

"मैं गोपाल हूँ।"

"नहीं नहीं सत्य कहो ?"

"माँ मैं सत्य कहता हूँ गोपाल हूँ।"

"मेरे गोपाल का मुख अत्यन्त कोमल था। यह मुख वैसा नहीं लगता। नैन ज्योति के क्षीण होने से उसे पहचानने में कठिनाई अवश्य थी। शब्दों से कुछ कुछ अनुमान होता था। परन्तु हृदय में संशय था। गोपाल ने माँ के नेत्रों का स्पर्श करते हुए कहा—

"माँ क्या अपने लाल को भूल जाएगी। देख !"

माँ के नेत्रों में ज्योति का संचार हो गया। सिर जो ऊपर को उठाया नेत्र गोपाल के नेत्रों से जा मिले। वक्षस्थल उमड़ पड़ा। स्तनों में दूध की आभा जान पड़ी। बस इतना पर्याप्त था। वह उठ खड़ी हुई। पुत्र स्नेह से रुक न सकी। शरीर को प्रगाढ़ आलिंगन दिया। कुछ समय के लिये शुद्ध प्रेम का स्वरूप दीख गया। दो

शरीरों में ऐक्य भाव स्थापित हो गया। दोनों के कन्धे अश्रुवों से भीग गए। बड़ी देर में स्थिर होकर बैठे। माँ बोली—

"बेटा ?"

"हाँ माँ।"

"क्या तुझे मेरी याद बिलकुल नहीं आई ? तू ने मुझे इतना भुला दिया जैसे भोलेपन के प्रश्नों की एक माँ से आशा की जाती थी वह सभी हुए। गोपाल उनका क्या उत्तर दें। वह माँ की गोद में बैठा रहा। शान्ति को भंग करते हुए फिर माँ ने कहा—

"बेटा ! मेरा समय निकट है। अब तुम मुझे छोड़ कर कहीं न जाना।" "अच्छा !" गोपाल ने उत्तर दिया।

इतने दिनों के पश्चात मां का पुत्र घिर लौटा है। आज उसके सुख का बखान कौन कर सकता। नित्य अपने लाल को प्यार करती। अच्छे २ भोज्य पदार्थ सेवन करने के लिये जुटाती। परन्तु उसे यह भी ज्ञात था कि उसका गोपाल रुग्ण है। वह जब यह सोचती तो उसका हृदय फटने लगता।

घर पर भजन सत्सङ्ग का अच्छा जमाव होता। कभी कभी अच्छे अच्छे विद्वान् भी वहाँ आते और अच्छे अच्छे धार्मिक प्रश्नों पर विचार किया जाता। एक दिन एक सज्जन ने प्रश्न कर दिया कि संसार का सुधार कैसे हो सकता है ?

"बस अपना सुधार कर लेने से संसार का सुधार हो सकता है।"

उसने कहा कुछ सुनाइये।

गोपाल ने कहा "बहुत सुनना लाभदायक नहीं होता। मनुष्य को चाहिये कि सुने कम और करे अधिक। मनुष्य अपनी आन्तरिक शक्ति का व्यय वाह्य इन्द्रियों द्वारा करता रहता है। उससे लाभ अधिक नहीं होता, अतः असत्य से मौन रहना अच्छा है और मौन से सत्य बोलना श्रेयस्कर है।"

इस प्रकार से दिन कटते थे। परन्तु गोपाल का स्वास्थ्य शोच-

नीय हो गया और भविष्य बड़ा भयंकर दिखाई देने लगा। माँ का जीवन ही दुखमय बीता था और अब जब उसके जीवन का दीपक बुझने के समीप आ गया था वह भावी भयंकर परिणाम को सोच सोचकर तड़पती और पुकारती—

अब की राखि लेहु करतार।
रात दिनाँ मैं बाट निहारूँ, हे जग पालनहार।
कासों कहौं मैं विपत्ति आपनी, हे मेरे भरतार॥

तम आच्छादित घर की ज्योती, जग माला का सुन्दर मोती।
सुखी जिसे लखि दुनिया होती, करती जिसको प्यार॥
हे मेरे भरतार॥

भेजा तुमने फिर गोपाल, मिला मुझे वह बन कर लाल।
मेरी आशा का शृंगार, प्रभु जी मिले मुझे उपहार॥
हे मेरे भरतार॥

जीवन की आशा सब छूटी, अपनी किस्मत मुझ पर रूठी।
घर सूना सूना संसार, किसे करूँ अब प्यार॥
हे मेरे भरतार॥

वास्तव में समस्त सुख आनन्द का स्रोत हमारे ही अन्दर है। वही पहले बाहर फेंका जाता है और फिर उसे ही ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों द्वारा मानव अन्तस्थल में लाकर सुख का अनुभव करता है परन्तु अविवेक से वह उस सुख को बाहरी वस्तुओं में आरोपित करता है। और वस्तु तथा व्यक्ति के अभाव में दुखानुभूति करने लगता है। इस सत्य की खोज के लिये एकांत सेवन लाभदायक है। ऐसा करने से जो शक्ति मानव को मिलती है उसकी आभा समस्त संसार को चकित कर देती है।

पुनर्जन्म

मनुष्य जीवन ही एक साधना है। साधना लक्ष्य को दृष्टि में रख कर की जाती है। बिना इसके जीवन का कोई आनन्द नहीं है। लक्ष्यहीन साधना व्यर्थ में जीवन नष्ट करती है।

भौतिकवादी किसी भी भौतिक वस्तु को अभीष्ट मानकर उसी प्रकार की साधना में जुटता है जिससे उसकी साध्य वस्तु की प्राप्ति हो जाय। साधना में दृढ़ता लक्ष्य की पुष्टता से आती है। यदि आवश्यकता की तीव्रता भी उसके साथ में लग जाए तो उसकी साधना में जान आ जाती है। मनुष्य उसके अनुसार साधन जुटाता है। एक साध्य तक पहुँचने के लिए अनेकों साधन होते हैं। प्रत्येक परिस्थिति में एक साधन से कुछ ऊँचा साधन साध्य रहता है। और जब साधक उस साध्य पर पहुँचता है तो उससे पहला साधन छूट जाता है और उससे आगे का साधन साध्य का स्थान ले लेता है। यही क्रम है। अब यदि इस क्रम में कोई साधक किसी एक स्थान को (जो कि उसकी साधना में है) साध्य समझकर बैठ रहे तो फिर वह अपने पूर्व लक्षित साध्य तक नहीं पहुंच पाता। यही दशा हम सांसारिकों की है।

पृथ्वी पर सब जीव कुछ न कुछ करते हुए दिखाई देते हैं। बहुत लम्बी व्याख्या को छोड़कर सीधे शब्दों में सबका अभीष्ट सुख प्राप्ति है। यह एक अलग बात है कि कौन किस स्तर का सुख चाहता है। एक नशेबाज़ को जो सुख उसे नशे की प्राप्ति में मिलता है किसी और वस्तु में नहीं मिलता। एक दार्शनिक अपने सुख का केन्द्र सासांरिक भौतिकवाद से बहुत परे मानता है। उसके विचार में देशकाल से बाधित सुख क्षणिक सुख है जिसके पीछे अवश्यमेव दुख है। अतः

वह उसको ही लक्ष्य मानकर अपना व्यवहार करता है। साधन पथ पर दृढ़ रहना ही उसे एक दिन अपने लक्ष्य तक पहुँचा देता है।

साधना में दृढ़ता के लिये आवश्यक वस्तु है जिज्ञासा। साधन पथ पर चलते समय यदि दुख सामने आए तो अच्छा साधक उससे घबड़ाता नहीं है। वह दुख ही उसे उस मार्ग पर और दृढ़ करता है। सूक्ष्म वस्तुओं में पारस्परिक विकर्षण शक्ति (repulsvie force) बहुत बलवान होती है। यही हाल हमारे अन्दर विचारों का है। चिरकाल से नाना प्रकार के पड़े हुए विचारों को जब हम वहाँ से हटाना चाहते हैं तो वह पूर्व अभ्यास के कारण वहाँ से नहीं हटते और हमारे सन्मुख विपरीत परस्थिति रख देते हैं जिनसे हमें संघर्ष करना पड़ता है। उसके ही फलस्वरूप हमें दुख मिल जाता है। उस संघर्षमय जीवन की कठिनाइयों का सामना करना ही उपासना है एक बात और ध्यान की यह है कि जब मनुष्य पर दुख पड़ता है तो वह उससे छूटने के उपायों का विचार करता है और बैठकर सोचता है। उसे उस अंधकार में प्रकाश की रेखाएँ मिलती हैं और वह आगे बढ़ता है।

आध्यात्मिक जगत में साधना का बड़ा विलक्षण स्थान है। यह हमारे धर्म की महानता है और ऋषियों की प्रखर बुद्धि की सूझ है कि लक्ष्य एक होते हुए साधना के मार्ग पृथक-पृथक हैं। उन ऋषियों से जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि रखते थे, सत्, रज, तथा तम गुणों को तथा उनके सम्मिश्रण को भली प्रकार समझकर उस प्रभु की प्राप्ति के अनेकों मार्ग बताए हैं और हमारे देश के सन्तों तथा अवतारों ने उन्हें अपने जीवन के साँचे में ढालकर उन्हें कार्यान्वित करके यह स्पष्ट दिखा भी दिया कि उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से स्वप्न में भी हानि नहीं हो सकती।

ऐसे सन्त समय समय पर विश्व में आते रहते हैं और यहां की भूली भटकी जनता को साधना में लगाकर उसके जीवन को धीरे-धीरे बदल देते हैं। साधना में एक बात और है।

साधना का फल बहुत कुछ भावना पर निर्भर है। जिस प्रकार से एक नोट के कागज का वास्तव में कोई अधिक मूल्य नहीं हैं। प्रेस से यदि उसपर पाँच रुपये का ठप्पा लग गया तो उसका प्रत्यक्ष मूल्य उतना ही होगा। और यदि दस रुपयों का ठप्पा लगा तो उतने ही दाम उसके आँके जाएगे। हमारी साधना में जैसी भावना का ठप्पा लग जाएगा वैसी ही सफलता मिलेगी।

साधना का पूरा भवन शरीर तथा स्वास्थ्य पर निर्भर है। एक दार्शनिक का कहना है कि स्वस्थ मस्तिष्क एक स्वस्थ शरीर में ही रहता है। अत: किसी भी साधना के लिये शरीर की देख रेख अत्यन्त आवश्यक है। प्राय: ऐसा देखा जाता है कि भावावेश में लोग शरीर की देख रेख कम करते हैं और जब आयु क्षीण होने लगती है तब पहले का कोई दबा हुआ रोग उठ खड़ा होता है, जो फिर साधना में विघ्न रूपहोकर आगे बढ़ने नहीं देता, और साधक को अत्यन्त सावधान रहने की आवश्यकता है।

भाई की मृत्यु के समय गोपाल को संक्रामक रोग (कालरा) से पीड़ा हुई थी। उसी समय यद्यपि वह ठीक हो गया था। परन्तु फिर भी उसके उदर में कुछ विकार बना रहा। काश्मीर में तथा हिमालय में वास करते समय कोई विकार जान न मिला। परन्तु जब वह लाहौर में रहने लगा तब वह विकार धीरे धीरे बढ़ा, और उसने बड़ा भयंकर रूप धारण कर लिया, उसे जलोदर रोग ने घेरा। शरीर में जल की मात्रा बढ़ने लगी। शक्तिक्षीण होने लगी स्वास्थ शोचनीय होने लगा।

इस रोग के कारण गोपाल को तीन वर्ष तक शैय्या पर पड़ा रहना पडा। घर में उसकी माता तथा बारह वर्षीय भतीजे के अतिरिक्त और कोई न था। माँ की दशा का वह ही अनुमान लगा सकता है, जिसको कभी माता तुल्य भाव प्राप्त हुआ हो। उसे अधीर देखकर एक दिन गोपाल ने कहा,

"मां ?"

"हाँ बेटा।"

"आप बड़ी अधीर जान पड़ती हैं।"

मां का हृदय दुःख से उमड़ पड़ा। वह वहीं रुक न सका, उसका भाव नेत्रों से प्रगट होने वाला था। इस भाव से कि अश्रुवों से रोगी को दुःख होगा, उसने मुँह फेरे फेरे उत्तर दिया,

" कुछ नहीं बेटा! दुःख सुख तो परमात्मा की देन है। इस समय दुःख ही सही।" इतना कहते कहते वह अपने को संभाल न सकी और कहती ही चली गई, "हे दैव! कितनी यातनाएँ दोगे। मैं दुखिनी क्या ऐसे ही जीवन बिता दूँगी। प्रभो मेरे अपराध क्या क्षमा नहीं होंगे? मैं........"

बात काटते हुए गोपाल ने कहा, "माँ! क्या कुन्ती का जीवन आप को याद है? सारे जीवन में कष्ट ही उठाया उस माँ ने! और अन्त में भगवान ने जब वर माँगने को कहा तब भी उन्होंने यही कहा कि प्रभो मैं चाहती हूँ कि मुझे जीवन में दुख मिले। क्योंकि दुख में ही भगवान याद आते हैं। माँ मैं यह सत्य कहता हुँ कि आजकल भगवद्भजन में जो आनन्द आता है वह पहले नहीं आता था। महात्मा ईसा का कथन है कि जब कोई पीड़ा अथवा रोग शरीर में आ जाए तो समझना चाहिये कि उस प्रभु ने स्मरण किया है। अब उसकी महान कृपा है।"

माँ को कुछ ढारस बँधा। इसी प्रकार से जैसे तैसे दिन कट रहे थे। यह स्पष्ट होने लगा था कि अब गोपाल भी न बचेगा। चिन्ता के कारण माता का धैर्य टूट रहा था। अपने लाल के लिये वह सब कुछ करने को उद्यत थी। यदि कोई ऐसा उपाय होता कि उसके पुत्र के जीवन के बदले उसकी आयु कम करदी जाती तो उसे स्वीकार थी। डाक्टरी दवाओं के अतिरिक्त जो कोई भी कुछ झाड़ फूँक मंत्र यंत्र, गन्डा तावीज़ बताता वह भी सब करती। परन्तु

यह सब उसी प्रकार से निष्फल होता जैसे कुएँ में गिरता जाता हो। वह वहाँ से उठकर चली गई। आपदा ग्रसित प्राणी से जो कोई भी कुछ कहता है वह तुरन्त करने को उद्यत हो जाता है। माँ ने सब कुछ किया परन्तु उसका भाग्य उसपर रूठा और सभी चिकित्सकों ने एक स्वर में कह दिया कि गोपाल के जीवन की कुछ आशा नहीं है। गोपाल को भी विदित होने लगा कि अब उसका वह कलेवर आगे जीवन चलाने के लिये निरर्थक था। परन्तु पूर्वाभ्यास तथा अच्छे संस्कारों के प्रभाव से उसकी मनो शान्ति बनी रही।

हाय! वह दिन निकट आ गया जिसकी आशंका थी सहसा गोपाल चौंका उसके मुख पर एक विचित्र आभा खेल रही थी। अचानक शब्द हुआ।

"अच्छा तुम आ गए! मैं....मैं ठीक हूँ। चलूँगा। रथ की क्या आवश्यकता मैं ऐसे ही चलूँगा। बस कुछ घड़ियाँ और हैं.." वह इसी प्रकार से बकने लगा शरीर का ऐसा बुरा हाल था जो देखा नहीं जाता था। उदर बहुत बढ़ गया था। और हाथ पैर सूख गए थे। समस्त चर्म के अन्दर जल भरा जान पड़ता था। समस्त शरीर पोला पड़ गया था। मृत्यु साक्षात् उसके शरीर को परास्त करने के लिये आगई थी।

सन्ध्या ने रात्रि को स्थान दिया। चारों ओर की चहल पहल समाप्त हो गई। रोगी को सान्त्वना देनेवाले लोग चले गए। एक दो स्वजन यह समझकर कि अब रात्रि न टलेगी, गोपाल का शरीर न जाने किस समय छूट जाए वहाँ रह गए। घर बड़ा भयावना जान पड़ने लगा। माँ की आँखों के सामने जाला सा तनने लगा अशुभ अङ्ग फड़क उठे। सहसा वह घबड़ा उठी। रोगी को लोगों ने भूमिशयन करा दिया ऐसी जवान मौत! ओह! हाय रे भाग्य। दुर्दैव तू ने भला दया सीखी या नहीं हाय! इस घर के कितने बच्चे कुछ छोटी अवस्था में कुछ बड़े होकर और कुछ घर बसाकर संसार छोड़ गए। अब केवल

एक दीपक इस अन्धेरे घर में बचा था वह भी आज बुझा। करूणा का साम्राज्य छा गया। लोग इधर उधर खिसकने लगे। माँ वहाँ से एक ओर हट गई। रो कर बोली।—

"हाय! मैं ने अपने सब बच्चे खा लिये और फिर भी क्षुधा न मिटी। गोपाल आज तुम्हें भी क्या खा जाऊँगी और न मरूँगी? नहीं नहीं! मुझसे यह दुख देखा न जाएगा। बस अब मैं अपने शरीर और दुख दोनों का अन्त आज कर दूँगी और यह अशुभ सूचना न सुनूँगी। पूर्व इसके कि घर में रोना पीटना हो, मैं अपने जीवन का अन्त कर दूँगी।"

ऐसा मन में विचार कर वह गोपाल के पास गई। उसमें चेतना शक्ति घटती जा रही थी। एकबार नेत्र खोल कर उस अर्धमृत शरीर को देखा और तुरन्त घर से बाहर आ गई। चारों ओर रजनी का अन्धकार अपने गर्भ में सब को छिपाए था। उसके लिये यह अवसर उपयुक्त जान पड़ा। वह भाग निकली। लगभग तीन बजे होंगे। उसने यह निश्चय करलिया था कि अपने कलेवर को रावी के अर्पण कर देगी।

मनुष्य क्या सोचता है और प्रभु क्या करते हैं दोनों में बड़ा वैचित्र्य है। माँ जान न पाई। उसके मन्तव्य को लोग जान गए और उनमें से दो चार उसके साथ हो लिये। माँ का पता न था। रात्रि में वह जान न सकी कि वह किधर से जा रही है और उस मार्ग पर पड़ गई जो लालादीनानाथ के बाग़ से होकर जाता था। पड़ोस में किसी ने धीरे से कहा,—

"माँ!"

चौंककर उसने कहा "कौन?"

"सुना है कि लाला की बाग़ में एक सन्त रहते हैं। परन्तु उनके दर्शन बड़े भाग्य से होते हैं। यदि वह कृपा करदें तो क्या आश्चर्य है तेरे भाग्य बदल जाएँ।"

माँ की विचारधारा बदली। कदाचित सूखे ठूँठ में हरित कोंपल

निकल पड़े। वह उस बाग में चली गई। ब्रह्मवेला का समय हो गया था। बाग में कुटी के बाहर एक सन्त दातुन कर रहे थे। ऐसे भीषण समय में भी अपनी शान्ति भङ्ग होते देखकर स्वभाव वश वह एक डण्डा लेकर लपके। परन्तु माँ! वह बिल्कुल नहीं डरी। वह पुत्र स्नेह से कातर हो गई थी, उसने सोचा बिना परीक्षा के प्रमाण पत्र नहीं मिलता। वह चुपचाप खड़ी रही। एक शब्द हुआ,

"कौन है तू ?"

" दुखिनी !"

"तो फिर !"

माँ चुप थी। साधू ने कहा—"जा चली जा।" परन्तु वह न टली। बाबा का रूख बदला। कुटिया की ओर चले अन्दर धूनी जल रही थी वह उसकी परिक्रमा करते हुए उस डण्डे से अपने शरीर को बड़े वेग से पीटने लगे। उन्होंने अपने ऊपर इतने डण्डे लगाए कि उनका शरीर लाल हो गया। इसके पश्चात् डण्डा अलग रख दिया, धूनी में से थोड़ी भस्म लेकर बाहर निकले। माँ की गोद में उसे देते हुए बोले,

"कौन कहता है कि मर गया ?"

यह भस्म उसके बदन से मल दे और कुछ मुँह में डाल दे।"

माँ थोड़ी देर के लिये अपना मरना भूल गई। उसे सन्तों पर विश्वास था। बाबा के चरणों में सिर झुका शीघ्रता से घर की ओर चल पड़ी। प्रभात की लालिमा से पूर्व दिशा में प्रकाश भर गया। भगवान सूर्य निकलेंगे। आज उनके लिये भी बड़े भाग्य का दिन होगा। आज उन्हें सन्त की भस्म का चमत्कार देखना है। माँ जैसे तैसे घर पहुंची। लोग गोपाल के अन्तिम श्वासों को भी प्राय: गिन चुके थे। वह अपने लाल की ओर लपकी। एक ने कहा—

"माँ! अब क्या रखा है। जीवन दीपक बुझा गोपाल साकेत चले।" काँपते हुए हाथों से माँ ने वह भस्म गोपाल के मुख में डाल

दी और जल्दी-जल्दी उसके मुँह तथा शरीर से मलने लगी। पास के एक व्यक्ति ने कहा—

रहने दे माँ। अब तू बज्र की छाती कर। अभी तो जीवन भर रोना है।"

एक दूसरे ने कहा—"भाई मत रोको माँ को माँ का हृदय विलक्षण होता है। भाई सन्तों की चुटकी में बड़ा प्रभाव होता है। संसार द्वन्दात्मक है। यहाँ कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। हानि के पश्चात् लाभ, रात्रि के पश्चात दिन, इस प्रकार से दुःख के पश्चात् सुख मिलता है। सन्तों का कहना है कि सुख, दुःख के गर्भ में होता है। जैसे गर्भिणी की सेवा आवश्यक है कि उससे पुत्र प्राप्त हो, इसी प्रकार से दुःख को भी सहन करना चाहिये कि जिस से सुख प्राप्त हो जाए। किसी कवि का यह कहना है कि "मर्ज़ का हद से गुज़र जाना है दवा हो जाना" सत्य है। बात भी ठीक है। जब कोई व्यक्ति गिरते-गिरते भूमि पर आ गया तो अब वह कहाँ गिरकर जायगा। अतः उसके लिये उत्थान आवश्यक है।

गोपाल के दुखों के कटने का समय आ गया था। उसे उसी भस्म की प्रतीक्षा थी। उसके शरीर से लगते ही दृश्य बदल गया। शरीर के प्रत्येक रोम कूप से जल प्रवाह आरम्भ हो गया। सबों ने कहा बस सरसाम हो गया। शीत छूट रहा है। सब तरफ़ लोग रोने लगे माँ के नेत्र खुले रह गए। मारे दुख के उसके अश्रु न निकला। उसने सोचा "हाय आज मेरी यह भुजा भी टूट गई अब मैं जी कर क्या करूँगी। अच्छा है कि मैं पहले मरजाऊँ और वह बात मेरे कानों में न पड़े जिसे मैं सुनना नहीं चाहती। उधर रोगी को शरीर से जल निकल जाने से आराम मिला। गोपाल ने भली प्रकार से नेत्र खोल दिए। लोगों ने समझा अब दम टूट रहा है। दीपक बुझते समय ही अधिक प्रकाश देता है। इधर उधर देखकर गोपाल ने संकेत से माँ को याद किया न जाने कितनी आशाओं को अपने हृदय में दबाए माँ समीप पहुँची।

"क्या है बेटा ?"

"भूख लगी है ।"

हैं यह शब्द ! आज गोपाल के मुख से यह बात लगभग दो महीने के पश्चात् सुनाई दी। उसके कानों ने विश्वास न किया । परन्तु फिर भी गोपाल ने कहा,

"माँ यह दवा कहाँ से लाई तू। मुझे इससे बड़ा सुख मिला ।"

माँ के नेत्रों में आशा की झलक दौड़ गई। आज जब उसके लाल ने कुछ खाने को मांगा तो उसके पास कुछ देने को नहीं है। वह तुरंत दौड़ी दौड़ी पड़ोस में गई। स्त्री से बोली 'बहिन! मेरे गोपाल को भूख लगी है। थोड़ा दूध दे दे। इसी बीच उसे गोपाल के बाल्य-काल की वह घटना याद हो आई जब एक रात्रि को बालक गोपाल दूध के लिए व्याकुल था तब किसी अज्ञात शक्ति ने प्रत्यक्ष दूध दिया था । वह स्त्री उस वृद्धा का मुँह देखने लगी। गोपाल अब दूध पियेगा। अब क्या पियेगा। उसका अन्तिम समय है। अपने भावों को दबाते हुए उसने उसे दूध दे दिया। गोपाल ने वह सब बड़ी शीघ्रता से पी लिया और धीरे से बोला ।

"अभी मेरी भूख मरी नहीं। मैं और पियूंगा ।"

बड़ी कठिनता से उसे थोड़ा और दूध दिया गया। भूमि पर पड़े पड़े लगभग छ घण्टे बीत गये। शरीर से इतना जल निकला कि थोड़ी थोड़ी देर में अलग लेटाना पड़ जाता था। उस जल के साथ में गोपाल का सारा रोग बह गया। भूख भी बढ़ी और शक्ति भी बढ़ी। लोगों के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। सायंकाल तक गोपाल चारपाई पर बैठने के योग्य हो गया। रात्रि में माँ ने खिचड़ी का पथ्य दिया। आज भस्म के प्रयोग का दूसरा दिन समाप्त हो रहा था। अचानक एक व्यक्ति ने बात करते करते कहा—

"अरे और कुछ सुना ?"

बड़े आश्चर्य से दूसरे ने पूछा "क्या हुआ"

"बाबा मस्तराम का सारा शरीर ठीक गोपाल के शरीर का सा हो गया है। सारे शरीर में जान पड़ता है जल भर गया है। साथ में ज्वर भी बहुत तीव्र है।"

गोपाल के कानों ने भी यह दुखद समाचार सुने! तुरन्त जिज्ञासा जाग्रत हो गई कि मस्तराम जी के दर्शन करें। परन्तु यह उनके लिए निताँत असम्भव था।

दूसरे दिन गोपाल ने लाठी का सहारा लिया और धीरे धीरे बाबा मस्तराम की कुटिया की ओर चल पड़ा, परन्तु बाबा के दर्शन उसके भाग्य में नहीं थे। घाट की ओर से अपार भीड़ शहर की ओर आ रही थी। पूछने पर पता चला कि बाबा ने रात्रि में ही शरीर छोड़ दिया था और उनका शव बड़े आदर सत्कार से गाने बजाने के साथ ले जाया गया था वह सब लोग घाट पर से लौट रहे थे। समय सदा एक सा नहीं रहता है। परन्तु घटना विशेष महत्व रखती है। एक ही काल में किसी का व्याह होता है किसी की चिता जलती है। घटना ही सुख दुख की अनुभूति कराती है। काल तो ईश्वर स्वरूप है। वह केवल सुख दुख का द्रष्टा बनता है। गोपाल के जीवन से यह घटना भुलाई नहीं जा सकती। वस्तुत: बाबा मस्तराम का भस्म दान उसके पश्चात् इतनी शीघ्रता से शरीर त्याग, और गोपाल का तीन साल का रोग स्वप्न हो जाना सब महान आश्चर्य के द्योतक थे। श्मशान से लौटी भीड़ आगे बढ़ गई। गोपाल बहुत निर्बल था। वह जल्दी जल्दी चल न सका। वहीं बैठ गया। उसकी विचारधारा प्रवाहित हो गई "ओफ यह कौन महात्मा था जिसने मुझे प्राणदान देकर अपना शरीर त्याग दिया। अवश्य ही मेरा काल आ गया था और मुझे मरना था परन्तु संत! संत हो होता है। गोस्वामी जी के इन वाक्यों में बड़ी जान है—

संत सहहिं दुख परहित लागी।
पर दुख हेतु असंत अभागी॥

संत हृदय नवनीत समाना ।
कहा कविन पै कहै न जाना ॥
निज परिताप द्रवहि, नवनीता ।
पर दुख द्रवहिं संत सु पुनीता ॥

बाबा से मेरी माँ का दुख देखा न गया और उन्होंने ईश्वरी विधान की रक्षा करते हुए अपनी जान देकर मुझे बचाया। ठीक है बाबर हुमायूं की घटना ठीक है । परन्तु अब क्या हो सकता था सब से बड़ा दुख तो यह है कि मैं उस भव्य मूर्ति के चरण स्पर्श न कर सका वह मुझे जीवन सन्देश दिये बिना ही चले गये । जो हुआ सो हो गया । अब मुझे क्या करना चाहिये । यह एक महान् प्रश्न है। उस महान् शक्ति के न रहने से एक बड़ी हानि हुई। उस के द्वारा विश्व का जो उपकार होता, कितने प्राणियों को जीवन सन्देश मिलता परन्तु अब ! अब क्या हो सकता था ? उनके उस महान् कार्य की पूर्ति अवश्य होनी चाहिये। उसी समय किसी विशेष निर्णय पर पहुँचना आसान नहीं था। धीरे धीरे वह घर की ओर चल पड़ा। संध्या भी समीप आ गई थी।

गोपाल के मस्तिष्क से वह विचार बाहर नहीं निकले थे । रात्रि में वैसे ही वह लेटा, उसे नींद आ गई । स्वप्न में महापुरुष के दर्शन हुए। उसे सिर पर किसी के स्पर्श का अनुभव हुआ "वत्स ! क्या मुझे पहचानते हो ?"

'नहीं !"

"सुनो" उसने फिर कहा, "मैं वही हूँ जिससे तुम सन्देश चाहते थे। घबड़ाओ मत ! तुम्हें संसार में बहुत काम करना है। उठो अपना आपा पहचानो। उस प्यारे का पुनीत सन्देश जनता में पहुँचाओ। मैं तुम्हारा भविष्य देख रहा हूँ। वह बड़ा उज्ज्वल है। लोग शरीर छोड़कर अमर होते हैं परन्तु तुम जीते जी अमर हो। यह मेरा आशीर्वाद है।"

प्रात:काल वह उठा। अब धीरे धीरे उसमें शक्ति आने लगी थी। परन्तु अब भी उसे रक्षा की आवश्यकता थी। माँ को एकान्त पाकर उसने स्वप्न का वृत्तान्त सुनाया। माँ बेचारी कुछ अधिक समझी नहीं। यह कहते हुए कि "अरे यह तो सपना है।" जाओ अपना काम करो वहाँ से चली गई।

गोपाल ने अपना संकल्प दृढ़ कर लिया परन्तु उसे किसी पर स्पष्ट नहीं किया। परन्तु समय संसार में बड़ा बलवान है। विश्व में परिवर्तन करनेवाला केवल काल है। उसीके सहारे सृष्टि की उत्पत्ति, सृजन, पालन तथा लय होता है। माँ के हृदय की दशा शान्त हो गई। अपने गोपाल को आज बहुत दिनों में पाया है। नित्य उसे अच्छे ढङ्ग से भोजन कराती। और प्यार भी करती। घर में धना-भाव तो था ही। घर की आवश्यकताएँ तो कम होती नहीं हैं। माँ ने प्यार से कहा।

"गोपाल।"

"हाँ मां।"

"बेटा कहीं कुछ रोज़गार का ढङ्ग करो घर में चार पैसे आने लगें तो दरिद्रता बिदा हो।"

"जो आज्ञा" गोपाल ने उत्तर दिया। और बन्दोबस्त विभाग में कार्य सीखने लगे। उसके पश्चात जम्मू के राज्यपाल श्री पिण्डी दास जी के स्थान पर सेवा कार्य के लिए गए। उस समय उनके बंगले पर और भी कई एक व्यक्ति इसी अभिप्राय से बैठे थे। उन्होंने चपरासी के द्वारा अपना परिचय भीतर भेजा। उसने लौट कर उत्तर दिया।

"बैठिये! अभी सरकार को समय नहीं है।" थोड़े समय के पश्चात् फिर साक्षात्कार कराने के लिये चपरासी से निवेदन किया, परन्तु फिर भी वही उत्तर मिला। इसी प्रकार की उधेड़बुन में लगभग मध्यान का समय हो गया। गोपाल की चित्त उदास होने लगा।

तुरन्त मन में पूर्व उपार्जित पुण्यों के प्रताप से वैराग्य ने ज़ोर मारा। वह तुरन्त उठ खड़े हुए और बोले।

" बस अब हम मिल चुके राज्यपाल से। अब ऐसे राज्यपाल से मिलेंगे जिसको मिलने के लिये समय ही समय हो। उसके द्वार पर किसी द्वारपाल से मिलने की आवश्यकता नहीं है। और न उसे मिलने में कोई आपत्ति ही है।"

"क्या बात है गोपाल ?" एक मित्र ने कहा —

"अभी रुको। अभी मुलाकात हो जाएगी।"

"भाई अपनी ग़रज़ है।" दूसरे ने कहा--"कोई उनका काम थोड़े ही है। नौकरी की बात है। भागने से काम न चलेगा।"

मुँह बिगाड़ते हुए एक तीसरे ने कहा—

"ऐसे कहीं नौकरी मिलती है भाई। जब अभी से उतावली है तो आगे राम मालिक है।"

गोपाल ने सबकी बातें सुनी। किसी को कोई उत्तर नहीं दिया। यह कहते हुए कि "आज से किसी सांसारीक कार्य के लिये किसी के द्वार पर न जाऊँगा।" वहाँ से चले गए। और लोग उनका मुँह देखते रह गए।

गोपाल जी ने फिर किसी नौकरी के लिये प्रयत्न नहीं किया।

मनुष्य जो क्षुद्र भोगों का परित्याग करता है, जब कूप तड़ाग की अभिलाषा छोड़ता है तब उसे समुद्र के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार बालक माँ की गोद में, निर्धन सात्विक दाता के सामने निर्द्वन्द हो जाता है, उसी प्रकार जीव प्रभु की शरण में अपने को सर्वोपरि समझता है।

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एकौ बाधा॥

अब गोपालजी के जीवन में किसी प्रकार की त्रुटि अवशिष्ट नहीं थी। साधना ने उन्हें सिद्धावस्था तक पहुँचा दिया था। जीवन सन्देश

उनके हृदय में था। सन्त कृपा पूर्ण रूपेण जगमग जगमग कर रही थी। एक आदर्श महापुरुष का वरद हस्त कमल उनके सिर पर था। मन में उल्लास, शरीर में स्फूर्ति, जीवन क्षेत्र सब सन्मुख था। बस गोपाल जी ने वह कार्य आरम्भ करने का संकल्प किया जिसके लिये वह इस भूमि पर भेजे गए थे। जिसके लिये संत इस संसार में आते हैं। यह उस कोटि के संत हैं जिनके लिये तुलसी बाबा लिखते हैं कि उनका माहात्मय वर्णन करने के लिये किसी में सामर्थ्य नहीं है।

महि पत्री करि सिन्धु मसि,
तरु लेखनी बनाय।
तुलसी गणपति सों तदपि,
महिमा लिखी न जाय॥

गोपाल जी को अवस्था अब लगभग तीस वर्ष के हो चली थी। परन्तु देखने पर इतना अनुमान करना कठिन था। लोग उन्हें केवल बाइस चौबिस वर्ष की आयु का अनुमान करते थे।

भारत के पुनीत संत घर से निकल पड़े। और भ्रमण करने के अभिप्राय से आप एक बार फिर उत्तराखण्ड की ओर चले। जीवन में साधना का प्रमुख स्थान था। अन्दर की मस्ती बाहर निकलने लगी। संगीत उनके लिये स्वाभाविक देन थी। उसी समय से उस साहित्य तथा काव्य ने अपना रूप प्रगट करना प्रारम्भ कर दिया जिसके प्रवाह में बहकर मानव इस पार से उस पार बिना प्रयास के जा सकता है। उन्होंने उत्तराखण्ड की महान यात्रा के विचार से चुपचाप घर छोड़ दिया। माँ को कितना दुख हो सकता है इसका अनुमान पाठक स्वयम् कर लें। जिस लाल को इतने कष्ट से बचाया उसे पुन: जीवन मिला, वह घर से चला गया। बस केवल उसका सन्देश जो उसने पीछे छोड़ा था अवशेष था।" माँ! तू मुझे जितना बड़ा देखना चाहती हैं उसके लिये आशीर्वाद दे। तू यही तो चाहती होगी कि तेरा वंश

चले। देख! मैं ऐसे का पल्ला पकड़ूँगा कि जिससे सारा विश्व तेरा हो जायगा। मैं शीघ्र तुझसे मिलूँगा।"

माँ का बुरा हाल हो गया। उस बेचारी को बोध नहीं हुआ। दिन रात गोपाल का नाम लेती। अश्रु प्रवाह के कारण तथा बुढ़ापे के कोप से सभी इन्द्रियों की शक्ति शीघ्रता से घटने लगी। विशेषत: नेत्रों ने जवाब देना आरम्भ कर दिया शवरी भक्ता की तरह माता अपने गोपाल की याद में कभी रोती और कभी गा उठती।

अब कब आओगे गोपाल।
तुम बिन अँखियाँ अति दुखारी, जीवन है बेहाल ॥ अब ॥
जीवन शक्ती भाग चली है, हृदय कमल की मरी कली हैं।
नैन चहैं गोपाल, अब कब आओगे गोपाल ॥
दरस दिखाओ, ताप मिटाओ, जल्दी आओ जल्दी आओ,
जीवन नैया पार लगाओ, माँ के प्यारे लाल ॥ अब ॥
सूरत कैसी भोली भाली, बातें सारी छल से खाली।
सुमन युक्त इस बन के माली, हे जग के प्रतिपाल ॥ अब ॥
ब्रह्मचर्य्य-व्रत के तुम रक्षक, काल कर्म गुण दोष के भक्षक।
जीवन आशा के प्रतिपाल, हे मेरे गोपाल ॥ अब ॥



बन पथ पर

दृढ़व्रती गोपाल को बाबा मस्तराम जी की भस्म ने जीवन-दान दिया। लोगों ने सन्त प्रसादी का प्रत्यक्ष प्रताप देखा। जिस शरीर को भूमि-शयन दे दिया गया था, उसे पुनर्जीवन प्राप्त हो गया। वास्तव में सन्तों का तथा सती स्त्रियों का संसार में वही अधिकार है, जो भगवान का है। भगवान् स्वयं जब सन्तों के विषय में कहते हैं तो वह तो यही कहते हैं—

सातवें सम माहि मय जग देखै। मोतें अधिक संत करि लेखै ॥

इस प्रकार का आदर सन्तों तथा भक्तों को भगवान परम्परा से देते आए हैं। भृगु ऋषि, अम्बरीष नरेश तथा सुदामा आदि के चरित्र इसके साक्षी हैं, परन्तु यह शक्ति उनमें आती किस प्रकार से है? इस प्रश्न पर विचार करने से यही उत्तर मिलेगा कि उन्होंने कभी किसी काल में अवश्यमेव तप किया होगा। गीतोक्त-तप को ही संसार तप मानेगा, उसके अतिरिक्त यदि कोई तप करता दिखाई देता है तो सन्देहात्मक है। मर्य्यादा को छोड़कर केवल दो ही चल सकते हैं एक तो वह जिन्हें बोध नहीं है, दूसरे वह जो तत्ववेत्ता हैं, जो अपनी मस्ती में भगवान् की भी परवा नहीं करते। वह लोग सुतीक्ष्ण वत् भगवान के जगाने पर भी नेत्र खोल कर उनके दर्शन नहीं करना चाहते अथवा पुण्डलीक भक्त की तरह माता-पिता की सेवा रूपीतप में तत्पर रह कर भगवान विट्ठल को प्रणाम करने नहीं उठते। एक ईंट धीरे से उनकी ओर सरका देते हैं और कह देते हैं। "भगवान्! मैं आपको एक-देशीय नहीं मानता। यदि आप उस रूप में मेरे सामने आए हैं तो मेरे पिता तथा माता के रूप में भी तो आप ही हैं। इनकी सेवा का भार मैंने पहले से ले रखा है। आप तो

पीछे से आए। ठहरिये, मैं इस सेवा से निवृत्त होकर तब आप की सेवा करूँगा।" क्या भगवान् उस पर रुष्ट हुए? नहीं। बड़े प्रसन्न हुए। यह भगवत् दर्शन उस महा भाग को केवल सेवा-तप से प्राप्त हुआ था। मध्यवर्ती लोग जो मर्य्यादा छोड़कर आचरण करते हैं, उनमें स्वार्थ की गन्ध अवश्य आया करती है। उस तप के लिये किसी वेश, भूषा, देश, काल आदि की आवश्यकता नहीं है। गीता जितने प्रकार के तप बताती है वे बड़े व्यापक सिद्धान्तों के आधार पर है।

देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजनं, शौचमार्जवम्।
ब्रम्हचर्यमहिंसा चा शरीरं तप उच्यते॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु (माता, पिता, आचार्य, वृद्ध और जो अपने से बड़े हों, वह सब इस संज्ञा में आ जाते हैं) और ज्ञानी जनों का पूजन एवं पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा यह शरीर का तप कहलाता है।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं चयत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

उद्वेग को न करने वाला, प्रिय और हितकारक एवं यथार्थ भाषण तथा जो वेद-शास्त्रों के पढ़ने का एवं परमेश्वर के नाम जपने का अभ्यास है, वह वाणी का तप कहलाता है।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

मन की प्रसन्नता और शान्तभाव एवं भगवत्‌चिन्तन करने का स्वभाव. मन का निग्रह और अन्तःकरण की पवित्रताः यह मानस तप कहा जाता है।

गीता अ. १० श्लोक १४।१५-१६

उपरोक्त श्लोकों में वर्णित तप सात्विक तप है। और जो तप सत्कार, मान, और पूजा के लिये अथवा केवल पाखण्ड से किया जाता है, वह अनिश्चित तथा अल्प फल वाला तप राजस तप है।

और जो तप मूढ़ता पूर्वक हठ से मन, वाणी और शरीर की पीड़ा के सहित अथवा दूसरे के अनिष्ठ करने के लिये किया जाता है, वह तामस तप कहलाता है। (गीता अ० १७, श्लोक -१८,१९)

अब साधक को देखना चाहिए कि वह किस प्रकार का तप कर रहा है। वास्तव में संसार का प्रत्येक प्राणी तप करता हुआ देखा जाता है। कोई धन के लिये, कोई मान प्रतिष्ठा के लिये, और कोई स्त्री, पुत्रादि के लिये तप करता है; परन्तु इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिए तप करने में केवल शक्ति का ह्रास होता है, लाभ कुछ नहीं होता।

ईश्वर-मार्ग में तो केवल सात्विक तप ही सहायक हो सकता है। राजस तथा तामस तप का कोई स्थान नहीं है। मन, वाणी तथा शरीर तीनों के तप एक साथ चलने चाहिये अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। तप में सब से बड़ा बाधक अहंकार है। इस महान् शत्रु ने विश्वामित्र, जैसे तपस्वियों को तपच्युत कर दिया। पूर्ण साधक वही कहा जाएगा जो तीनों प्रकार के तपों को एक साथ चलावे।

गोपाल जी ने घर छोड़ दिया। तप का सुन्दर स्थान उत्तराखण्ड भूमि है। बाबा मस्तराम जी का स्वप्न का सन्देश उनके अन्दर गूँजा करता था। कभी-कभी वह सोचते कि वास्तव में जीवों का दुख किस प्रकार दूर हो सकता है। उन्हें महात्मा बुद्ध का स्मरण हो आता, उनके जीवन की घटनाएँ भी याद आ जाती, आठ दस दिन की यात्रा के पश्चात् गगन-चुम्बित पवित्र हिमालय के शिखर दिखाई देने लगे। मैदान का दृश्य छूट गया। मनुष्यों की बस्तियाँ छूट गई। कई दिन चलने के पश्चात कहीं कोई बस्ती मिल जाया करती थी। गोपाल जी अब वह गोपाल नहीं हैं। अब पूर्ण संकल्प सहित पूर्ण ज्ञानानन्द की प्राप्ति ही अभीष्ट थी। इनका शरीर अभी निरोग हुआ था। पहले की सी दशा अभी हुई नहीं थी; परन्तु फिर भी शीतोष्ण-सुख-दुख सहने की पूर्ण शक्ति थी। कवि कुल श्रेष्ठ तुलसी बाबा की तप साधना का भी उन्हें ध्यान आया करता—

तप अधार सब सृष्टि भवानी। करहु जाय तप अस जिय जानी ।।
तप बल रचइ प्रपंच विधाता। तप बल बिष्नु सकल जग त्राता ।।
तप बल शम्भु करहिं संघारा । तप बल शेष धरहिं महि भारा ।।

ऐसे तप का यह क्रम है —

नित नव चरण उपज अनुरागा, बिसरी देह तपहिं मन लागा।

तप का साफ़ल्य इस सिद्धान्त पर बहुत निर्भर है। प्रेमास्पद में यदि नित्य नया-नया अनुराग न होगा तो कठिन तपस्या का दुःख सहन न हो सकेगा। दुःख मनुष्य किसी न किसी आधार पर सहता है। अनुराग ही एक ऐसी वस्तु है, जो उस दुःख का प्रतिकार कर सकता है। संसार में मनुष्य धन के अनुराग के ही कारण दिनों-दिन दूकान पर एक आसन से बैठे-बैठे काट देता है। बड़े आदमी जीवन में इतने व्यस्त रहते हैं, कि उनके बाथ रूम तक में बड़ी कठिन फाइलें रख दी जाती हैं। यह सब वह धन या जन के प्रति अनुराग के कारण करते हैं। वास्तव में अनुराग प्रभु की ऐसी देन है कि जिसके कारण सारा मानव समाज क्रियाशील दिखाई देता है। अन्यथा सब ओर निष्क्रियता ही दिखाई देती है।

भगवत् साक्षात्कार की ओर उनका अनुराग घर ही से बढ़ता जाता था। इसी कारण से देहाध्यास में शिथिलता आने लगी थी। उनका तप का क्रम पार्वती के तप की शैली में वर्णित है। पार्वती की तपश्चर्या का यह क्रम था।

संबत सहस मूल फल खाए।
सागु खाइ सत बरष गवाए ।।
कछु दिन भोजन बारि बतासा।
किए कठिन कछु दिन उपवासा ।।
बेल पाति महि परइ सुखाई।
तीनि सहस संबत् सोइ खाई ।।

पुनि परि हरे सुखानेउ परना ।
उमा नाम तब भयउ अपरना ॥
देखि उमहि तप खीन सरीरा ।
ब्रह्मगिरा भइ गगन गंभीरा ॥
भयउ मनोरथ सफल तब, सुनु गिरिराज कुमारि ।

गोपाल जी ने भी मन में इस क्रम का संकल्प किया। सब से पहले भोजन में अन्न को मात्रा कम करके कन्द-मूल फलों का आधार लिया। तत्पश्चात फलों के स्थान पर शाक की मात्रा बढ़ाई। धीरे धीरे शरीर की स्थूलता कम होने लगी। साधना ने अपना रंग जमाया। उनका आसन दृढ़ होने लगा। इसके पश्चात् मन भी निःसंकल्प होने लगा। घण्टों मन में कोई संकल्प न उठता। शाक की भी मात्रा कम हो गई और वन की वनस्पतियां ही उनके भोजन का आधार बन गईं। बस संसार की किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं रही; क्योंकि मनुष्य के मार्ग में क्षुधा-पिपासा बहुत बाधा डालती है। शरीर ढकने की तो कोई कठिनता होती नहीं है। भोजन पर भी उन्हें अधिकार हो गया। बस वह स्वतंत्र हो गए। हिमालय की जिस कन्दरा में चाहते बैठ जाते, वह वहाँ कब तक बैठते इसको कोई न जानता कभी दस-पन्द्रह दिन में भले ही कोई ऊधर से निकलता। अन्यथा मनुष्य के दर्शन न होते। हाँ पहाड़ी चिड़ियां तथा पशु अवश्य दिखाई दे जाते है।

एक दिन की बात है कि गोपाल जी हिमालय की एक गुफ़ में बैठे थे उधर से घूमता हुआ एक भूला-भटका व्यक्ति निकल पड़ा। उसे इस निर्जन में मनुष्य की कदापि आशा नहीं थी। महात्मा को गुफ़ा में बैठा देख कर उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा समीप आकर प्रणाम किया और बैठ गया। शान्ति को भङ्ग करते हुए गोपाल जी ने पूछा—

"कहो! किधर से।"

"महाराज संसार से।"

"और अब किधर?"

"अब संसार के मालिक की ओर।"

"क्यों?"

यह प्रश्न गम्भीर था। वह विचार में पड़ गया। क्या उत्तर दूँ। गोपाल जी की ओर देखने लगा। मानों उनके अनुरूप कोई उत्तर ही नहीं बनता। उसकी कुछ विशेष समझ में नहीं आया। बोला—

"वहाँ से बहुत ऊब गया हूँ।"

"कोई कारण तो बताओ?"

"वह दुःख पूर्ण है।"

गोपाल ने मुस्कराकर धीरे से कहा—

"तो क्या यहाँ बहुत सुख है?"

"हाँ महाराज! कम से कम वह उद्वेग उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ तो नहीं हैं।"

"तुम उनका अभाव क्यों मानते हो।"

"क्योंकि वह मेरे सामने नहीं हैं।"

गोपाल ने उस समय कोई उत्तर न दिया। उन्हें यह अवश्य ज्ञान मिला कि वह व्यक्ति साधक था।

संध्या हो चली थी। वृक्षों के झुरमुट के कारण भूमि पर अन्धेरा पहले से ही हो गया था। यह पता न लगा कि सूर्य देव कब अस्ताचल की ओर चले गए।

गोपाल जी ने उस व्यक्ति को पास की गुफ़ा का संकेत कर दिया और बता दिया कि वह वहाँ विश्राम कर सकता है। सत्कारार्थ उन्होंने अपनी गुफ़ा में से कन्द-मूल उसे खिलाए।

उस दिन पूर्णिमा की रात्रि थी। चन्द्रदेव ने अपने साम्राज्य से समस्त आकाश को प्रकाशित करते हुए चारों ओर अमृतमयी किरणों को प्रसारित करना आरम्भ कर दिए। वहाँ की शान्ति के विषय में

तो कुछ कहना ही नहीं था। गोपाल जी न जाने रात्रि में किस समय उठे। पास की झाड़ियाँ सोई हुई थीं, पक्षी वृक्षों में सोये पड़े थे। हाँ, उनके चबूतरे पर भी एक बनराज सोया हुआ था। उसका विशाल मस्तक, लम्बी पूँछ, विकराल कलेवार चाँदनी में स्पष्ट दीख रहा था। गोपाल का आध्यात्मिक स्तर त्रिगुण की त्रिपट से बहुत ऊपर उठ चुका था। उन्हें

अद्वेष्टा सर्व भूतानां, मैत्रः करुण एव च
निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुखः क्षमी"

गीता, १२।१३

की दशा प्राप्त हो चुकी थी। बड़ी सहजावस्था में आप गुफ़ा से बाहर निकले और चबूतरे पर मस्ती से बैठ गये। मन भगवत् स्मरण में लीन हो गया। वह शेर थोड़ी देर में जागा, विशाल मस्तक ऊँचा करके खड़ा हो गया और इधर-उधर देखने लगा। सहसा उसकी आँखें गोपाल जी की आँखों में मिल गईं। ऐसा जान पड़ा कि मानों वह लज्जित हो गई हों। दुम हिलाता हुआ वहीं फिर बैठ गया।

गोपाल जी ने बड़े मीठे स्वर में यह पद आरम्भ कर दिया—

हमरी राम नाम लौ लागी।

प्रगट भयो है ज्ञान का भानू। सोई सुरत अब जागी ॥
उमड़ पड़ा है प्रेम का सागर। आशा-तृष्णा भागी ॥
हृदय मण्डल प्रकाशित होया। जग मग ज्योति है जागी ॥
आ पहूँचे निर्वाण नगर जहाँ। द्वेषी हैं न रागी ॥
घट के पट चौपट सब हो गये। माया सरपट भागी ॥
मधुर मनोहर अमृत वर्षा। घट में बरसन लागी ॥
आत्म-दरस रस भीनी अँखियाँ। रसना हरि रस पागी ॥
अनहद बाजे बाज रहे हैं। शब्द की धुनि है लागी ॥
काम-क्रोध भूले नहिं व्यापें। मनुवाँ भयो अब त्यागी ॥
'शहन्शाह' अब मगन भये हैं। निजानन्द अनुरागी ॥

गोपाल जी को संगीत भगवान की ओर से ही मिला था। जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि संगीत समाज का उनके प्रति कितना उत्थान हुआ यह कोई छिपी बात नहीं है। ऐसे मधुर कण्ठ से उन्होंने यह पद गाया कि आनन्द की सीमा न रही। वह शेर उठा और बड़े प्रेम से उनके चरणों के पास आकर बैठ गया। इतने में ही वह साधक भी आहट पाकर बाहर आ गया, दृश्य देखकर अवाक् रह गया। कुछ देर तो वह सहमा, समझा कि काल आ गया। परन्तु गोपाल जी के प्रेम के प्रभाव से वह भी बच न सका, उसपर रंग चढ़ गया। उसको देखते ही गोपाल ने बड़े प्रेम से अपने पास बिठा लिया और फिर अपनी मस्ती में गाने लगे—

हमें देखो हम क्या से क्या हो गये हैं।
मरज़ से ग़रज़ अब दवा हो गये हैं॥
नहीं शक है इसमें मेरी जान इसला।
कि हम बाख़ुदा अब ख़ुदा हो गये हैं॥
गई भाग ग़म की घड़ी, दुम दबा कर।
जुदाई के बादल हवा हो गए हैं॥
दुआ का असर उलटा सीधा हुआ है।
जो थे बेवफ़ा बावफ़ा हो गए हैं॥
जिन्हें ईद का चाँद कहते थे वह अब।
हमें कहते हैं आप हुमाँ हो गए हैं॥
न डूबेगी वल्लाह किश्ती हमारी।
'शहन्शाह' अब नाखुदा हो गए हैं॥

गोपाल जी भजन बोल कर चुप हो गए। वह व्यक्ति भी ऐसा चुप हुआ कि उसकी समाधि लग गयी। इस अवस्था में न जाने कितना समय निकल गया। उस व्यक्ति ने जब नेत्र खोले तो चारों ओर उजाला हो गया था। पक्षियों का कलरव समाप्त हो चुका था। भगवान्

भास्कर अपनी किरणों से पृथ्वी पर के ओस कणों का शोषण कर रहे थे। थोड़ी देर में गोपाल जी ने भी नेत्र खोले। वह बोला—

"महाराज! आप तो पूर्ण संत हैं। मुझे ऐसा लगता है कि आप साक्षात् ईश्वर ही हैं।"

गोपाल ने सुना, परन्तु कुछ न बोले। अङ्गड़ाई लेते हुए बोले—

"मैं न बन्दा न खुदा था, मुझे मालूम न था।
दोनों इल्लत से जुदा था, मुझे मालूम न था॥
जब हुआ वस्ल खुला, राज़ यह तबही मुझको।
वासिले हक़ मैं सदा था, मुझे मालूम न था॥
मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुख राशी॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि वीधि इव गावहिं वेदा॥

पारस्परिक वार्तालाप आरम्भ हो गया। गोपाल जी संभल कर बैठ गए और बोले—'सुनो जी। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व वास्तव में हमारे मन में रहता है, यदि वह वस्तु हमारे मन से विस्मरण हो जाए तो फिर बाहर भी वह न रहेगी। जब कोई वस्तु मन से उतर जाती है तो वह चाहे जेब में ही रखा हो, उसकी स्मृति नहीं होती। इसी प्रकार से यदि हम वस्तुओं का स्मरण मन से हटा सकें तो फिर वह चाहे जहाँ पड़ी रहें उन से कोई सुख दुःख न होगा। संसार की सब वस्तुओं के दो मूल्य होते हैं। एक वास्तविक तथा दूसरा कल्पनिक। दोनों मूल्य वस्तु में ही निहित रहते हैं। उदाहरण के लिये एक पाँच रूपये का नोट ले लें। उसका वास्तविक मूल्य तो केवल काग़ज़ का एक छोटा सा टुकड़ा है। परन्तु उसका काल्पनिक मूल्य पाँच रुपया है। यदि सरकारी प्रेस से उसपर दस रुपये अथवा दो रुपये छप जाते तो वह ही उसका काल्पनिक मूल्य हो गया होता। ठीक इसी प्रकार से सांसारिक वस्तुओं के भी दो मूल्य हैं—एक जो उसका बाह्य रूप है, जो दिखाई देता है। दूसरा उसका मूल रूप। मूल रूप ही परमात्मा है। और काल्पनिक रूप माया है। संसार में माया

और ब्रह्म मिल कर ही रङ्गमंच पर पार्ट करते हैं। केवल अकेला एक रचनात्मक कार्य नहीं कर सकता 'इंजन के चलने में इंजन और भाप दोनों चाहिये। केवल इंजन गाड़ी को नहीं घसीट सकता और न केवल भाप ही अकेली गाड़ी घसीट सकती है। अत: संसार में रहकर कार्य करने के लिये जोश और होश दोनों चाहिये। जाओ, अब नीचे उतरो। जहाँ भी रहना यह याद रखना कि जो वस्तु सत्य है, उसका कभी अभाव नहीं है और जो असत्य है उसका भाव कभी नहीं होता। बस इस धारणा से तुम संसार बन्धन से छूट जाओगे और मस्ती भी बनी रहेगी। एक बात और सुनो। देखो मनुष्य बिना कर्म किये कभी रह नहीं सकता। संसारी मनुष्य सचमुच बड़े-बड़े कर्म करते हैं, परन्तु वह होते हैं, क्षुद्र फलों के निमित्त परन्तु जैसी वासना वैसा फल। अपनी वस्तु का मूल्य जो हम आँकते हैं, उससे अधिक संसार में मूल्य नहीं मिलता सुदामा चिवड़ा लेकर भगवान् के पास गए। भला उस मुट्ठी भर चिवड़े का मूल्य कदाचित एक धेला भर भी न होगा। परन्तु सुदामा के लिये उसकी परस्थिति में वह अमूल्य थे, क्योंकि उनमें किसी की भावपूर्ण भावना भरी थी। वे अभिमंत्रित थे अत: वस्तु भले ही निम्न स्तर की हो, मंत्र से उसका मूल्य बढ़ जाता है और उसमें शक्ति भी बढ़ जाती है। एक और उदाहरण द्वारा समझो, एक पाँच रुपये का नोट भला कितने भार का होगा ? उसकी ज्वाला से कदाचित एक बून्द जल भी गरम न हो सकेगा। परन्तु उसपर सरकारी मोहर लगी है इस कारण से उसका मूल्य बढ़ गया है। कर्मयोग में भी यह विशेषता है। कर्म को नोट समझो उसपर भावना रूपी मोहर का ही मूल्य है। यह ही मूर्ति पूजा का रहस्य है उसकी कल्पना में बड़ा सौन्दर्य है। भला उस मूर्ति को कौन तोड़ सकता है। वह प्रतिमा आरम्भ में भी तो एक पाषाण-खण्ड ही तो थी। मैंने ही उसमें भावनारूपी प्राण डाले हैं। तोड़-फोड़ तो पत्थर की ही हो सकती है, भावना की नहीं। जब मैं अपनी भावना

पत्थर से निकाल लूँगा, वह फिर पाषाण खण्ड हो जायगी। फिर जो चाहे उसे नष्ट भ्रष्ट करदे।

ऐसी कल्पना करो कि दो व्यक्ति गंगा नहाने जाते हैं। उनमें से एक सोचता है—"अरे लोग जो गंगा-गंगा कहते हैं, उसमें धरा ही क्या है। वह तो दो भाग हाइड्रोजन (Hydrogen) और एक भाग ऑक्सीजन (Oxygen) है। दूसरा व्यक्ति गंगा को साक्षात् श्री विष्णु का चरणोदक समझता है। उसकी भावना में गंगा पतित-पावनी पाप-नाशिनी मां है। स्नान दोनों करते हैं। शरीर दोनों का स्वच्छ होता है। परन्तु दूसरे को मन शुद्धि रूप महान् फल मिल जाता है। सूर्य नमस्कार में व्यायाम तो होता ही है। भावना के अनुसार मानसिक उत्थान रूपी फल भी मिल जाता है।

वह व्यक्ति गोपाल जी की बातें सुनकर अत्यंत प्रसन्न हुआ। बोला—

"प्रभो! मेरे अन्तर चक्षु आपकी कृपा से खुल गए। मैं जिस अभिप्राय से इस मार्ग में उतरा था, वह पूरा हुआ। अब मुझे कुछ नहीं चाहिये। आत्म तृप्ति से मन उल्लसित हो रहा है। अब मेरे लिये जो आज्ञा हो?"

गोपाल जी ने उसके सिर पर हाथ फेरा और आदेश दिया।

"बस और क्या चाहते हो? यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व है, जिसे साधक को जानना चाहिये। इस ही का मनन करो और जीवन पर्यन्त जनतारूपी जनार्दन की सेवा करो। अपने प्रति प्रियतम का सुखद सन्देश भूली-भटकी जनता को सुनाओ। मैं अब यहां से चलता हूं।"

उस व्यक्ति ने उठकर बड़ी भावुकता से गोपाल जी के चरण पकड़ लिये और कुछ न बोला। प्रेमाश्रु नेत्रों के कोनों से निकल कर गुप्त स्नेह का परिचय देने लगे। गोपाल जी वहां से चले। उनका मनोरथ पूरा हो चुका था। मनुष्य जीवन का परम लाभ उन्हें हो चुका था। इसका परिचय उनके उपरोक्त कथित शब्द तथा उनकी मुखाकृति थी। प्रसन्नचित्त नरसिंह की भांति मस्ती से इधर-उधर देखते जाते थे।

जंगल के हिंसक पशु पास से होकर निकल जाते थे। मानों उनका राजा उनके पास हो। मार्ग में यह विचार उत्पन्न हुआ कि, "अहा! मैंने भी क्या क्या रूप धारण किये हैं। कैसी व्यापक मेरी सत्ता है। गीतोक्त सांत्वना में बड़ा गूढ़ रहस्य निहित है—

अनन्याश्चिन्तयन्तोमां येजनाः पर्युपास्ते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
गीता ९।२२

यदि यहां कहीं जलवायु का सुपास होगा तो कुछ दिन और रहेंगे। गोपाल जी अपने विचारों में निमग्न निज्ञानन्द की मस्ती में विभोर मार्ग पर चले जाते थे। चारों ओर दूर तक मनुष्य के मिलने की आशंका तो थी ही नहीं। कहीं जल भी नहीं दिखाई देता था। धीरे-धीरे दिन चढ़ आया था। शरीर को तो उसका आहार कुछ न कुछ चाहिये, उन्हें पिपासा जान पड़ी। पानी मिलना चाहिये, ऐसा विचार आते ही सामने एक गजराज दिखाई दिया। उसके सूँढ़ में एक काष्ट खण्ड था, जिसके एक सिरे पर अग्नि सुलग रही थी। महान् आश्चर्य की वह बात थी। उस निर्जन में अग्नि कहां से आई, इसका कोई उत्तर सम्भव नहीं था। बस, यह कहा जा सकता था कि वह भगवान् के उपरोक्त मंत्र का क्रियात्मक अर्थ था। वह हाथी उस लकड़ी की अग्नि बुझाना चाहता था, इस अभिप्राय से वह एक ओर को चला। गोपाल जी भी उसके पीछे हो लिये। अभी वह थोड़ी दूर ही चला होगा कि उस निर्जन में झरना भी दिखाई दिया। उसने उसे बुझाने के लिये जल में गिराया, परन्तु वह जल में गिरी नहीं। गोपाल जी ने उसी लकड़ी के सहारे अग्नि प्रज्वलित की और फिर वहीं लगभग एक मास रहे।

साधना की सफलता के पश्चात् अब हिमांचल प्रदेश में क्या प्रयोजन था। संत का जीवन ही दूसरों के लिये होता है—

संत विटप सरिता गिरि धरणी, पर हित हेतु सबन्ह की करणी।

गोपाल जी वहाँ से फिर चल पड़े। मार्ग में एक पुराना मठ मिला। उस स्थान पर बैठ कर किंचित् विश्राम किया। वहाँ बैठने पर एक विचित्र बात जान पड़ी। गोपाल जी को ऐसा जान पड़ा कि वहाँ किसी महात्मा ने अवश्य तप किया होगा, उस दिन वहीं विश्राम किया। रात्रि में उन्हीं महापुरुष के दर्शन हुए। आदेश हुआ—

"वत्स !"

चौंक कर गोपाल ने उत्तर दिया "जी हाँ।" मानों कोई आमने-सामने बात कर रहा हो।

"सुनो ! अब तुम अपने महान् कार्य में लगो तुम्हारा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है, तुम्हारे द्वारा मेरा कार्य पूरा होगा। वास्तव में मेरा शरीर जर्जर हो गया था। अतः अब मेरी प्रेरणा तुम्हारे शरीर से कार्य करेगी। तुम्हारी वाणी में बड़ा ओज होगा। बस सावधान !"

गोपाल जी को अत्यंत हर्ष हुआ। उन्हें पहले की बात याद आ गई। यह आशीर्वादात्मक शब्द उन्हीं महापुरुष के थे, जिन्होंने उन्हें जीवन-दान दिया था।

लगभग पाँच या छः महीनों के भ्रमण के पश्चात् गोपाल जी ने पुनः लाहौर में प्रवेश किया और लाला दीनानाथ की वाटिका में ठहरे। शहर में बड़ी तीव्रता से यह समाचार फैल गया कि लाला दीना नाथ जी के बाग में एक संत ठहरे हैं। लोगों को दर्शनों की लालसा बढ़ी। एक दिन लाला जी की पुत्र वधू दर्शन करने आई। उसने दूर से जो इन्हें देखा तो अपने साथ की स्त्री से बोली—

"यह तो बाबा मस्तराम जान पड़ते हैं ?"

"हुँ ! बाबा मस्तराम तो तब ही नहीं रहे थे" उसने उत्तर दिया। ऐसा कहते कहते वह लोग निकट आ गए और पूछा—

"क्या आप मस्तराम हैं ?"

"हाँ हम मस्तराम ही हैं। तुम चाहे मानों या न मानो।" गोपाल जी ने उत्तर दिया।

वह लोग बड़े आश्चर्य में पड़ गईं। परन्तु महात्मा के तेज के सामने कुछ कह न सकीं। गोपाल जी को लोग अब स्वामी जी कहने लगे थे।

अब स्वामी जी के रहने का यह ढंग था कि वह सब घरों को अपना घर, सब मनुष्यों को अपना संबन्धी, तथा समस्त वस्तुओं को अपनी वस्तु समझने लगे थे। परन्तु उनका यह भाव उन वस्तुओं से केवल कार्य मात्र से ही था। उन्हें जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती तो किसी के घर चले जाते और कहते—

"भोजन खिलाओ।"

लोग उनकी दृढ़ता पर कुछ कह न पाते और बिल्कुल अपने परिवार का ही व्यक्ति समझकर उनकी सेवा कर देते। प्रातःकाल वह फिर अपने मार्ग पर चल पड़ते। जहाँ-जहाँ लोग उनसे किसी प्रकार का प्रश्न पूछते, गोपाल जी बड़े सुन्दर ढंग से उसका समाधान कर देते। शरीर पर युवा अवस्था न्योछावर हुई जाती थी। यह समय जीवन में बड़ा भयंकर होता है। बड़े-बड़े महारथी जो युद्ध में बड़े हाथियों को पछाड़ सकते हैं, इस अवस्था में परस्थितियों के कारण नीचा देख जाते हैं, परन्तु जो यथार्थ में शेर दिल होते हैं, वह भगवान् की कृपा के सहारे उन पर विजय भी प्राप्त कर लेते हैं। एक दिन गोपाल ने संध्या के समय एक घर में प्रवेश किया उस समय घर का स्वामी कहीं बाहर गया था। गृहणी ने आगन्तुक का स्वागत किया और बाहर चारपाई डाल दी। गोपाल वहीं बैठ गया। उसके सामने के घर से एक कन्या ने उन्हें देखा। उसकी अवस्था कुछ अधिक हो चली थी। गोपाल को देख कर उसके हृदय में विकार जाग्रत हो गया। उसने सोचा कि यह युवक कौन हैं? इसके चेहरे पर बड़ा तेज है और शरीर भी बड़ा कान्तिमान है, परन्तु मिलना नितान्त असम्भव था। उसका दिल टूट गया। वह गोपाल को देख कर एक ठण्डी सांस भर कर

अन्दर चली गई। रात्रि के समय जब गोपाल जी भोजन कर रहे थे, वह अपनी पड़ोसिन के घर गई और बोली—

"बहिन ! यह कौन हैं ?"

"मुझे ज्ञात नहीं है। क्यों ? क्या तुम जानना चाहती हो ! तो पूछ लो।"

एक लम्बी सांस खींचते हुए उसने उत्तर दिया "क्या करूँगी जानकर। उस से कुछ लाभ होता तो ऐसा भी था।"

"कैसा लाभ चाहती हो तुम ?"

उस कन्या के नेत्र झपक गए। लज्जा से सिर झुक गया। मुंह बन्द हो गया। वह कुछ न बोली।

वह स्त्री बड़ी चतुर थी। उसे उस कन्या का हाल पहले से ज्ञात था। अब वह युवती हो चली थी, परन्तु उसके पिता को उसके विवाह की अभी चिंता ही नहीं थी। यह एक बड़े दुख की बात थी। भोजन के पश्चात् गोपाल के शयन करने का प्रश्न उपस्थित हुआ। घर में स्थानाभाव के कारण शयन का प्रबन्ध सामने वाले घर के कमरे में कर दिया गया।

धीरे-धीरे रात्रि बढ़ने लगी। दिन भर की यात्रा के पश्चात् गोपाल को नींद आने लगी। चारों ओर नितान्त सन्नाटा था। सहसा किसी की आहट से वह चौंक पड़ा। रात्रि के अन्धेरे में उसे एक प्रतिमा सी दिखाई दी। तुरन्त प्रश्न हुआ "कौन ?"

उत्तर कुछ नहीं। उस प्रतिमा ने चरणों की ओर झुक कर प्रणाम किया और सिमिट कर एक ओर बैठ गई।

"बोलो, तुम कौन हो ?"

बड़े धीरे स्वर में उत्तर मिला। "मैं नहीं जानती कि मैं कौन हूँ। हाँ, अब मैं तुम्हारी शरण हूँ।"

"अच्छा तो ?"

"भीख मांगती हूँ।"

"मुझ से ?"

"जी हाँ, मेरे धनी, आप से।"

"अरे भाई हम साधुओं के पास क्या रहता है।"

"मैं जो चाहती हूँ, वह तो आप के पास है और चाहे कुछ हो या न हो।"

गोपाल जी बड़े सोच में पड़ गए। ऐसी भला क्या वस्तु है जो उसके पास है। शान्ति को भङ्ग करते हुए उस कन्या ने कहा—

"आप चुप क्यों हैं ? आप हाँ कहें तो मैं याचना करूँ।"

यह मुझ से क्या माँगेगी। मन ने कहा, सोच समझकर 'हाँ' कहना। महाराज दशरथ की याद कर लेना। ज़रा सी भूल के कारण राम को बन जाना पड़ा और स्वयं तो संसार ही छोड़ कर चले गए। वह कुछ न बोले। उसने फिर कहा, "क्या भीख न मिलेगी ?"

"देखो, मुझे साफ-साफ बता दो, क्या चाहती हो ! तो मैं सोचूँ ?"

भारत में अभी भी लज्जा स्त्री का भूषण है। कितनी भी कोई स्त्री बिगड़ क्यों न जाए, परन्तु लज्जा एक ऐसी आड़ है कि वह व्यक्तियों को आर-पार नहीं देखने देती। पुरुष स्त्री पर विजय प्राप्त कर के प्रसन्न होता है और स्त्री अपने प्रेमी के हाथों परास्त होकर हर्षित होती है। कमरे में बड़ी देर तक सन्नाटा छाया रहा। धीरे-धीरे गोपाल जी को जब फिर निद्रा आने लगी तो उस कन्या ने फिर जगाया।

"मानव शरीर जो ईश्वर की देन है, बड़े भाग्य से मिलता है, उसे अत्यंत सुरक्षित रखने की आवश्यकता है। यह रक्षा केवल एक अकेले शरीर से उतनी सुन्दर नहीं हो पाती। हां, यदि उसके साथ में कोई जीवन-साथी भी हो तो वह उसे बड़े सुन्दर ढंग से चला सकता है। सृष्टि के आदि से ही निर्माण के लिये प्रकृति और पुरुष दोनों ही नितांत आवश्यक हैं। दोनों सत् पथ के पथिक यदि ईश्वरीय सृष्टि का आनन्द लें तो इसमें अनुचित ही क्या है ?"

गोपाल की अब समझ में आया कि वह लड़की क्या चाहेगी। अरे भला कहीं लोहे के सोंटे में जोंक लगती है? जिस खोखट को उसने माता के कहने से स्वीकार न किया, उसे अब वह क्या ऐसे ग्रहण कर लेगा? कदापि नहीं; परन्तु स्थिति बड़ी भीषण थी। बड़ी चतुरता से काम लेना था। कहीं-कहीं कटु सत्य काम नहीं देता, उसे मीठा बनाना पड़ता है उसने कहा—

"भद्रे! तुम्हारा क्या अभिप्राय है? यह समय हमारे और तुम्हारे एकान्त में रहने का नहीं है। शीघ्र बोलो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ?"

"मुझे अपनी सेवा करने का अवसर दीजिये। मैं आपसे सेवा नहीं चाहती। बस प्रत्येक समय आप के मुखार्विन्द के दर्शन किया करूँ।"

गोपाल जी उसके उत्तर से सहम गए! हैं, वह क्या चाहती है? तुरन्त सतर्क हो गए। जीवन संगिनी? सेवा, वह तो वैसे भी हो सकती है; परन्तु यह बड़ा अनुचित व्यवहार होगा। उसने कहा क्षुद्र सेवा से वह फल न मिलेगा जो महान् सेवा से मिलेगा।

"महान् सेवा! मैं नहीं समझी।"

"उस विराट् स्वरूप ईश्वर की सेवा महान सेवा है। मनुष्य की सेवा क्षुद्र सेवा है।"

"मैं बहुत छोटी हूँ। क्षुद्र सेवा करके महान् सेवा को पहुँचूँगी। सृष्टि में सबकी सेवा यदि न कर मिले तो अपनी सामर्थ्य भर सेवा करे। स्त्री के लिये प्राय: पति उस महान् विराट् का सूक्ष्म रूप है, उसके ही अन्दर अपने इष्ट को स्थापित करके पुजारिन बन कर आराध्य देव की सेवा करने से वही फल मिलता है जो महान साधनों से मिलता है।"

"भद्रे! यह सब छायावाद की कविता है। भविष्य की कल्पना में सुख कहाँ? क्योंकि उनका आधार तो सांसारिक भौतिक पदार्थों पर अवलिम्बत है, जो सुख देश-काल की मर्यादा से बाधित है, उसमें

सुख मानना नितान्त भ्रम है। राई भर यदि कहीं सुख है तो पर्वत के बराबर दुःख है।"

"क्यों क्या राजा जनक के समान जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता?"

"जनक महाराज की बात तो एक ओर रही। यदि किसी को विशेषाधिकार प्राप्त हों तो क्या उससे किसी साधारण नियम की पुष्टि थोड़े ही होती है। इतिहास में अनेकों उदाहरण मिलेंगे, जिनसे पता चलेगा कि बड़े-बड़े परिवर्तन कभी-कभी स्त्रियों के कारण हुए। उन्हीं के संसर्ग से पुरुष ने नीचा देखा। महाराज दशरथ केकयी के फेर में पड़ कर जीवन से हाथ धो बैठे। पृथ्वीराज को संयोगिता के प्रेम पाश में बंध कर महान् कष्ट उठाना पड़ा और इतना ही नहीं, तभी से देश में हिन्दूराज समाप्त हुआ और यवनों ने दासता की जंजीरों में भारत माता के पाँव जकड़े। इतना बड़ा महाभारत काण्ड द्रौपदी के कारण हुआ। नैपोलियन का पतन भी स्त्री के ही चक्कर में पड़ने से हुआ।"

"मैं ज्ञान तो सीखना नहीं चाहती। जैसे उदाहरण आपने दिये उसके विपरीत उदाहरण स्त्री के द्वारा उत्थान के भी दिये जा सकते हैं। कार्य को छोड़कर यदि कारण पर विचार करें तो सुख विद्या और धन से प्राप्त होता है, दोनों की प्राप्ति दो देवियों की कृपा से होती है, सरस्वती और लक्ष्मी दोनों ही मानव को मानव बनाती हैं। और उत्थान की ओर ले जाती हैं। मेरे नाथ! मैं आप की कृपा दृष्टि चाहती हूँ। मैंने सुना है कि सन्त बड़े दयालु होते हैं, उनका काम ही एक मात्र जीवों पर दया करना है।"

"भद्रे! तुम्हारी यह अभिलाषा मुझसे पूरी न हो सकेगी। इस सेवा के लिये तुम्हें कहीं और प्रयास करना चाहिये।"

"नहीं, भारतीय नीरी अनेक स्थानों पर नहीं घूमती। मैं अपने को तुम्हारे चरणों में भेंट कर चुकी हूँ, उसे आप स्वीकार करें।"

गोपालजी के जीवन में यह पहला अवसर था जबकि उन्हें ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ा हो। उन्हें माया का वह चित्र उस कन्या में दिखाई दिया, जिसे उन्होंने एक बार पहले देखा था। वास्तव में स्त्री भी तो एक माया का ही प्रतीक है। जिस प्रकार भगवान अपने आश्रित माया के सहारे सृष्टि-निर्माण करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी स्त्री के सहारे अपनी छोटी सी सृष्टि का निर्माण करता है। ईश्वर में तो वह सामर्थ्य है कि फिर उसका उपसंहार करके अपने आप में लय कर लेता है, परन्तु मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता। वह मानव चोले में आत्मीयता का अहंकार दृढ़ करके कर्म फलरूपी जन्म-मरण के चक्कर में पड़ जाता है। गोपालजी ने सोचा कि स्त्री की माया बड़ी विलक्षण होती है। उन्हें तुलसी बाबा का दोहा—

का न करे अबला प्रबल, का नहिं सिन्धु समाय।
का नहिं पावक जरि सके, केहि जग काल न खाय॥

स्मरण हो आया। सोचा न जाने क्या उपाधि खड़ी हो जाए। उसे युक्ति से टालना चाहिये। उन्होंने कन्या से कहा—

"देवी! मैं तुझ में अपनी माता के दर्शन कर रहा हूँ। मैं तेरी यह अभिलाषा पूरी नहीं कर सकता।"

"नहीं कर सकते?"

"हाँ मुझे कठिनाई है।"

"कठिनाईयाँ तो दूर की जा सकती हैं।"

"कुछ भी हो, मुझे क्षमा कर देवी।"

"नहीं-नहीं, मेरा जीवन बिगड़ जाएगा।"

"अभी नहीं बिगड़ा है, पीछे बिगड़ जाएगा।"

"अच्छा तो क्या यह अन्तिम उत्तर है?"

"हाँ और क्या।"

"अभी समय है सोच लो।"

"सोचना क्या? सत्य में भी कुछ सोचना होता है।"

"मैं कोई धमकाने की बात नहीं करती वत्स ! तुम्हारे सरल उत्तर तथा भोलेपन पर ही तो मुग्ध हूँ ।"

"ठीक है देवी, जो देखने में बहुत सरल होता है, कभी-कभी कठोर भी होता है । अच्छा जाओ, मैं अभी तो यहाँ हूँ ही, तुम्हारे प्रस्ताव पर विचार करूंगा ।"

"क्या मैं कुछ आशा रखूं ।"

"आशा पर तो मनुष्य अपने भविष्य का निर्माण करता ही है, यदि तुम भी उसे आधार बनाओ तो क्या हानि है ।"

उसने धीरे से सिर झुकाया और चली गई । गोपाल ने अपने भाग्य को सराहा और अन्दर से द्वार पट बन्द कर लिये । लेटे-लेटे सोचता रहा कि यह कौन सी बला फट पड़ी । वास्तव में संसार में साधक के पथ में पग-पग पर भाले गड़े हैं । एक महात्मा का कथन अक्षरशः सत्य है

पग-पग पर भाले गड़े, स्वांस-स्वांस पर तीर ।
नारायण के पन्थ में, ठहरत बिरला वीर ।।

रात्रि आधी ढल चुकी थी । आकाशगङ्गा ने अपनी दिशा बदल दी थी । उत्तर की ओर ध्रुव दर्शन दे रहे थे । मानों कह रहे हों कि मेरी तरह ही सब को अपने पथ पर अडिग रहना चाहिये ।

"ध्रुव विश्वास अचल निज धर्मा"

पेड़ों पर पक्षी सोये पड़े थे । नितांत सन्नाटा था । गोपाल ने सोचा—"न होगा बांस न बजेगी बांसुरी ।" अच्छा समय है, खिसक चलो यहाँ से । स्त्री सब कुछ कर सकती है । मैं अपने निर्दोष होने का किस-किस को प्रमाण दूँगा । बस इतना विचार आते ही वह ईश्वर का अनन्य भक्त उस अनन्त की खोज में माया रूपी नारी से अपना पीछा छुड़ा कर उस घर से निकल पड़ा । वह गाँव बहुत बड़ा नहीं था । थोड़ी दूर ही चल कर झोंपड़े समाप्त हो गए । वह खेतों में आ गया । अब वह एक विशाल अर्ध गोलाकार गुम्बद के नीचे था ।

प्रकृति का सौन्दर्य रात्रि में भी कम नहीं होता, उस समय उसका अपना एक विलक्षण रूप होता है। वह लगभग आठ या दस मील चला होगा; परन्तु तब तक निशा का अन्धकार सब वस्तुओं को अपनी गोद में छिपाए था। वह एक वृक्ष के सहारे बैठ गया। थोड़ी देर में उसे निद्रा आ गई और वह स्वप्न देखने लगा।

"वत्स! ऊपर देखो। मुझे पहचानते हो"

"नहीं।"

"मैं तुम से रावी के तट पर एक बार मिल चुकी हूँ। आज मैं तुम्हें आशीर्वाद देने आई हूँ। वास्तव में तुम महान् आत्मा हो। तुम्हारी धारणा को धन्य है। मैं ने ही उस कन्या के रूप में तुम्हारी परीक्षा ली थी। अब तुम्हें मेरी ओर से कोई कष्ट न होगा। तुम कदाचित् न जानते हो। मैं तुम्हारे उज्जवल भविष्य को देख रही हूँ। तुम्हारे द्वारा सत्य-प्रेम का ऐसा सुदृढ़ वृक्ष लगेगा जो अपनी छाया से कलिकाल के तप्त जीवों को शीतलता प्रदान करेगा।"

स्वप्न समाप्त हो गया और साथ में नींद भी भङ्ग हो गई। सूर्य की नवीन रश्मियाँ शरीर पर पड़ रही थी। चारों ओर एक विचित्र आनन्द छाया हुआ था। गोपाल ने लेटे-लेटे यह पद गाया—

मगन रहो रे भाई हर दम।
मित्र-बन्धु और तन अपना सब, हैं यह वस्तु पराई॥
निज मतलब के सब साथी हैं, तेरा न सङ्गी काई।
हृदय मण्डल में ज्ञान का झाड़ू, देकर करो सफाई॥
स्वारथ तज दो पदारथ पाओ, और तजो चतुराई।
खो दो सब कुछ तुम शाहन्शाह, चाहो जो वस्तु पाई॥

धीरे-धीरे लगभग एक मास की यात्रा के पश्चात् आज गोपालजी अपने घर के समीप पहुँचे। पास-पड़ोस में यह सूचना कि गोपाल जी लौट आए हैं, बिजली की भाँति फैल गई। अपने-पराए सब देखने

को दौड़े। घर पर बड़ी भीड़ लग गई। गोपाल ने सब को यथोचि. प्रणाम, अभिवादन किया। माता को उन के लौटने से जो सुख हुआ, उसको तो कोई माँ बन कर देखे, उसे ही समझ में आएगा। जिसने अपने को किसी के प्रेम में मिटाया है, वही प्रेमास्पद के मिलने का आनन्द जान सकता है।

गोपालजी अब घर पर रहने लगे। मांने कहा—"बेटा कुछ काम करले। देख घर में यह बालक बढ़ रहा है। इसको पढ़ाना लिखाना भी है। घर के सभी काम हैं।"

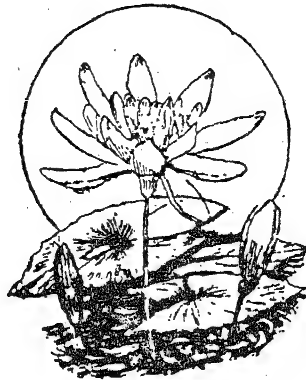
अच्छा मां अब जो तू कहेगी, वही मैं करूँगा। ऐसा कह कर गोपाल ने नौकरी की खोज आरम्भ कर दी। सायंकाल के समय घर पर भजन गानेवालों का तथा सत्सङ्गियों का अच्छा जमाव होता था। गोपालजी की वाणी में माधुर्य तो पहले से हा था, तप कर लेने के कारण अब उसमें अधिक रस आने लगा था। कभी-कभी लोग बड़े विचित्र प्रश्न पूछ दिया करते थे। गोपाल उनका उचित उत्तर देते। एक दिन एक सज्जन ने पूछा—

"गोपाल! बताओ सच्चा धन कौन सा है?"
"वास्तव में सच्चा धन मनुष्य का अपना धर्म है।"
"लज्जा किससे करनी चाहिये?"
"अपने बुरे कर्मों से।"
"सबसे बड़ा दोष क्या है?"
"भेद-दृष्टि। इससे ही भय और शोक का जन्म होता है।"
"अपना सच्चा मित्र कौन है?"
"अपना जीता हुआ मन ही अपना परम मित्र है।"
इस प्रकार से दिनोंदिन घर में आनन्द बढ़ने लगा। वास्तव में

मनुष्य को चाहिये कि शक्ति को व्यय करने से पहले संचय कर ले। उसके लिये तप की आवश्यकता है।

गोपाल जी ने उसी मार्ग को अपनाया और अब उनमें दैवी सम्पत्ति का जो प्रथम लक्षण है, वह जाग उठा था। वह अब सर्व-प्रकारेण अभय हो गए थे। बस फिर क्या था उनमें धीरे-धीरे अन्य सद्गुण भी आने लगे, जिन्होंने आगे चलकर उन्हें सत्य स्वरूप महात्मा की उपाधि प्रदान की।

संत शरण जो जन पड़ै, सो जन उधरन हार।
सन्त की निन्दा नानक, बहुरि बहुरि औतार ॥



देशाटन

त्रिगुणात्मक सृष्टि में सभी प्रकार के लोग रहते हैं। दूसरों के परमहित की बात वही सोच सकता है जो इन गुणों से ऊपर हो गया हो गुणों से ऊपर होना कोई सरल काम नहीं है। ईश्वरीय सृष्टि में केवल मानव को ही यह अधिकार प्राप्त है कि वह गुणों पर विजय प्राप्त कर सके। इसके लिये एकान्त स्थान तथा साधन चाहिये। हमारे प्राचीन ऋषि महर्षि इस बात के प्रतीक हैं। यदि शासन सत्तापर कोई अनुशासन कर सकता था तो वह था ऋषि समाज। यह ऋषिसमाज अपने तपोबल को बढ़ाया करता था। प्रचार कार्य किया करता था और शासक तथा शासित जनों की देखरेख रखता था। हमारे इतिहास में जब जब शासकों ने शासित वर्ग को दलित किया तब ही ऋषियों ने आप शक्ति से उसकी रक्षा की। यह तपो मूर्ति महा पुरुष ग्रंथ लिखा करते थे। अपने शिष्यों को बहुत अंश कंठाग्र करा देते थे। वह शिष्य इधर उधर भ्रमण करते थे और उन धार्मिक सन्देशों को प्रसारित करते थे जिनसे लोगों को धर्म,अर्थ,काम, मोक्ष चारों फलों की सुगमता से प्राप्ति होती थी। तथ्य की बात यह थी कि ऐसे प्रचारक समाज से कुछ भी नहीं लिया करते थे। सर्व प्रकारेण उनसे ऊपर रहने के कारण वह उस समाज की आलोचना भी कर सकते थे। उनके प्रचार का ढंग आधुनिक काल के ढंग से पृथक था।

मध्यकालीन प्रचार के ढंगों में सर्व श्रेष्ठ शैली समर्थ रामदास जी की है। उन्होंने बारह वर्ष देशाटन किया। इस समय में उन्होंने देश तथा धर्म की तत्कालीन दुरव्यवस्था को समझकर उसके उत्थान का उपाय सोचा था। वह जहाँ जहां जाते थे वहां मठ स्थापित करते और उसकी व्यवस्था का भार वहीं के किसी श्रेष्ठ सुचरित्र महन्त

को सौंप देते थे। वह साधू महात्माओं से भी मिलते उनसे सत्सङ्ग करते और समयानुसार राजनीतिक विषय पर भी गोष्ठी करते थे। यह उनके प्रचार का ही सुन्दर ढंग था जिसके कारण मुग़ल राज्य की नीव उखड़ गई थी। समाज में जो शैथिल्य हो गया था उसमें स्फूर्ति आ गई थी। मध्यकालीन सन्तों की साहित्यिक देन आज ही नहीं वरन् अनन्त काल तक जीवन को पावन बनाती रहेगी।

आजकल की व्यवस्था एक बिलकुल नए ढंग की है। समाज की आज की समस्याएँ अपना एक प्रमुख स्तर रखती हैं। समय की मांग कलियुग का काल, चलचित्रों की कृपा, वास्तविक शिक्षा का अभाव, भौतिक शिक्षा का दुरुपयोग, समाज में उच्छृङ्खलता सबों ने एक साथ समाज को पतन की ओर ले जाने का बीड़ा उठाया है। ऐसी दशा में प्रचार किस प्रकार का हो यह एक विचारणीय वस्तु है। एक और प्रश्न भी विचाराधीन है वह यह कि प्रचारका अधिकार किसको है। कलियुग के सिपाहियों ने क्या प्रचारकों को छोड़ा है? कदापि नहीं। जहां समाज में किसी का वैभव बढ़ा कि अहंकार महाराज ने कृपा की। प्रचारकों को जिस समाज में प्रचार करना है वह भी तो है अधिकांश रजोगुणी अथवा तमोगुणी। फिर इनके बीच में रह कर इनका ही अन्न खाने को मिलता है जिसमे अपनी वृत्ति बिगड़ कर पथच्युत होने की नौवत आ जाती है। इतना सब होते हुए भी आख़िर प्रचार तो करना ही है। संत जिसके हृदय में समाज के दुःख, कष्ट पहुँचाया करते हैं कब चुप बैठ सकता है। वास्तव में आत्मज्ञान प्प्ति के पश्चात् फिर उसके लिये काम ही क्या रहता है।

संतहृदय नवनीत समाना। कहा कविन पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवहि नवनीता। पर दुख द्रवहि सो सन्त पुनीता॥

बस यह सन्त पराए दुख से ही दुखी होकर उनके कल्याणार्थ दिन रात प्रयत्न शील रहते हैं।

साधना की परिपक्व अवस्था प्राप्त करके गोपाल जी देशभ्रमण के अभिप्राय से निकल पड़े। प्रारम्भ में उनके निवास स्थान सूत्तर मण्डी लाहौर में ही भजन सत्सङ्ग का आयोजन रहता था। इस कारण से वहाँ के समाज को उनके सत्सङ्ग का अधिक लाभ हुआ। उर्दू का एक मासिक पत्र 'पैग़ामे शहन्शाह' नाम से उन दिनों निकला करता था। उसमें इनकी कवितायें तथा लेख अधिकांश निकला करते थे। गोपल जी ने काव्य जगत में कई नामों से ख्याति पाई। महबूब, रंक, तथा "शाहन्शाह'। इन नामों के साथ में कुछ महत्व अथवा अर्थ है। जीव सर्व प्रथम भगवत्शरणागति ग्रहण करता है। उस समय उसके अन्दर

"सीय राम मय सब जग जानी"

का भाव रहता है। अतः भगवान के नाते वह अपने को दासानुदास समझ कर केवल एक अपने प्यारे को ही सर्वत्र विराजमान समझता है। रंक शब्द का यही अर्थ समझ में आता है। धीरे धीरे यह जीव शिव अवस्था को प्राप्त हो जाता है और "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" का पूर्ण साक्षात्कार हो जाने पर वह "तस्यैवाहं से त्वमैवाहं पद पर पहुँच कर महावाक्य "तत्त्वमऽसि" को भली प्रकार समझ लेता है और गीतोक्त स्थितप्रज्ञ पद में रमण करता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगतस्पृहः।
वीतरागभय क्रोधः स्थिथधीमुर्निरूच्यते ॥

गीता २।४६

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितः ॥

गीता २।५८

वास्तव में वह यह समझ नहीं पाता कि उस में यह परिवर्तन कब हो गया। यदि सूर्य से कोई प्रार्थना करे, "आप धन्य हैं हम जीवों

को गरमी प्रदान करते हैं।" तो वह भला क्या उत्तर देंगे ? सम्भवतः वह यह कहेंगे कि मुझे नहीं मालूम कि मैं क्या करता हूँ। गरमी पहुँचाना तो मेरा धर्म ही है। इसी प्रकार से वह संत भी अपने शरीर को जन सुख में विलीन कर देता है। गोपाल जी को यह दशा प्राप्त होते ही समाज ने उन्हें शाहन्शाह के पद पर अभिषिक्त कर दिया।

कहते हैं कि एक समय वह अनायास ही राग कीर्तन के वार्षिक उत्सव के अवसर पर जालन्धर पहुँचे। लोगों को जब उनके पधारने का पता लगा तो उनसे बहुत अनुनय विनय करके सभापति के पद पर अभिषिक्त किया। वह श्वेत वस्त्र धारण किये हुए थे। सिर पर श्वेत पगड़ी बंधी थी। गोपाल जी जब आसन पर बठे तो सहज ही पगड़ी उतार कर नीचे रख दी। थोड़ी देर को पश्चात् वहाँ के प्रबन्धक महोदय पं० तुलाराम जी ने उनसे कान में कहा।

"स्वामी जी एक प्रार्थना है।"

"कहिये।"

"इस सभा में नगर के तथा प्रान्त के प्रमुख महानुभाव उपस्थित हैं।"

"अच्छा तो" गोपाल जी ने मुस्करा कर पूछा,—

"आप क्या चाहते हैं ?"

"यही कि आप यह पगड़ी सिर पर रखलें। इसके नीचे पड़े रहने से मान हानि होती है।" गोपाल जी को बड़ा आश्चर्यमय जान पड़ा। उन्होंने कुछ सोचा ही नहीं। उस पगड़ी को दर्शकों के ऊपर से उछालते हुए कहा—

"यह लो। मैं इस अपमान के टोकरे को सदा के लिये नष्ट किये देता हूँ। न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

सर बरहना नेस्तम दारम, कुलाहे चार तर्क।
तर्क दुनिया, तर्क उकबा, तर्क मौला, तर्क तर्क॥

दर्शक बड़े आश्चर्य में पड़ गए। पं० तुलाराम जी बड़े लज्जित हुए। लोगों ने उच्चस्वर से कहा

"अरे भाई यह तो "शहन्शाह" हैं। इनसे कुछ भी कहना अनुचित है।"

वाह वाह के शब्दों से आकाश गूँज गया। गोपाल जी ने समय पर यह भजन गाया।

मये बेख़ुदी में मैं मस्त हूँ।
न हूँ बाला और न पस्त हूँ॥
न मैं सिर न बाज़ू न दस्त हूँ।
न मैं नेस्त हूँ और न हस्त हूँ॥
न ख़ुदा न ख़ुद न ख़ुदाई हूँ,
न मैं बर्री बहरी हवाई हूँ॥
न पिसर न बाप न भाई हूँ,
न सनम न हुस्न परस्त हूँ॥
न जुदा हूँ और न मिला हूँ मैं
न मैं आबोगिल न ख़ला हूँ मैं।
न मैं नार और न हवा हूँ मैं,
न मैं सोना चांदी न जस्त हूँ॥
ऐ 'शहन्शाह' पाना है गर ख़ुदा,
तू ख़ुदी की ये, का अलिफ़ बना
मैं ख़ुदी से दूर रहूँ सदा,
मैं तो ज़ाते मस्त अलस्त हूँ॥

इस पद को सुन कर सब लोग मंत्रमुग्ध हो गए। सभा विसर्जित करते करते आप ने कहा —

"गर शाहन्शाह बनना है, तो ताजे दुनिया तर्क कर।
सर कटादे अपना तो मिलने बक़ा आए तुझे॥"

इस प्रकार से आप के काव्य में रंक तथा शाहन्शाह दोनों ही नाम प्रगट होने लगे।

आगे जीवन में समाज में उनका नाम 'शाहन्शाह' प्रसिद्ध हुआ। गोपाल नाम तो केवल थोड़े ही व्यक्ति जो उनके पूर्व परिचित थे वह ही जानते थे। हम भी आगे से अब इसी शब्द का प्रयोग करेंगे।

शाहन्शाह जी जालन्धर से होते हुए शिमले पहुँचे और वहाँ नाभा के महराज श्री हीरा सिंह जी के निवास स्थान पर ठहरे। संयोग की बात उन्हीं दिनों में जम्मू के राज्यपाल राय साहेब पिण्डी दास जी भी नाभा नरेश से मिलने शिमला आए। वार्तालाप करते हुए उन्होंने राय साहेब से पूछ दिया।

"कुछ भजन भी करते हो?"

"हाँ! थोड़ा बहुत कर लेता हूँ कभी कभी।"

"कुछ सत्संग में रुचि है।" नाभा नरेश ने कहा—

"आजकल हमारे यहाँ बड़े अच्छे एक सन्त ठहरे हैं तुम्हारा जी चाहे तो दर्शन करो।"

"बहुत अच्छा" कह कर राय साहब अपने निवास स्थान पर चले गये। दूसरे दिन उनका एक पत्र मिला जिसमें रायसाहब ने स्वामी जी से मिलने की प्रार्थना की थी। स्वामी जी ने उस दिन अस्वीकार कर दिया। दो तीन दिन के पश्चात् स्वामी जी के अवकाश से वह आए। उनके सामने आते ही स्वामी जी ने उन्हें पहचान लिया परन्तु वह इन्हें न पहचान सके। उन्होंने प्रश्न किया।

"स्वामी जी गीता में भगवान ने जो भोजन की व्यवस्था लिखी है। उसका क्या तात्पर्य है। विदेश में जो भोजन का विधान है क्या वह सब अधोगति को ले जाने वाला है?" स्वामी जी ने कहा—प्रश्न बड़ा गम्भीर है। सुनिये।"

"मनुष्य जब जब जन्म लेता है तब उसके साथ तीन संस्थाएँ होती हैं। एक उसका अपना शरीर दूसरी माता पिता बहिन भाई आदि, तीसरा पास का समाज, देश तथा विश्व। मनुष्य इन तीनों की कृपा से उत्थान को प्राप्त होता है। अतः इन तीनों की सेवा करना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है। सेवा एक महान यज्ञ है जिसका फल ईश्वर प्राप्ति है। इस यज्ञ को सात्विक बनाना चाहिये। यदि इस सेवा में निष्फलता का अभाव तथा सकामता का अभाव होगा तो सेवा रूप यज्ञ अत्यन्त सरस, सुखकर और हितकर होगी।

सेवा हमसे तब ही बन पड़ेगी जब हम शरीर को कुछ भोग दें। इसी भोग यज्ञ को हम भोजन कहते हैं। इस शरीर यंत्र को कोयला देने की आवश्यकता है। यह आहार जो हम शरीर में देते हैं, वह उस जठराग्नि में यज्ञरूप है। अग्नि में हम कोई गन्दी वस्तु न डालें यह बड़े विचार की बात है। एक कहावत है Eat to live, and not live to eat. जीने के लिए खाओ, न कि खाने के लिये जियो। गीता के अनुसार इस कर्म को तदर्थीय कर्म कहते हैं। सन्तों का कहना है " जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन, जैसा पीवे पानी वैसी होवे बानी। आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौन सा हो इस की अपेक्षा यह बात अधिक महत्व की है कि वह कितना हो। वैद्यक सिद्धान्तानुसार भोजन से रक्त, रक्त से वीर्य, वीर्य से मन क्रमशः बनते हैं। हमको सेवा कार्य करने में कोई अड़चन न पड़े इसी लिये आहार चाहिए। इस दृष्टि से आहार का चुनाव होना चाहिए। उस के विचार में देश काल का ध्यान रखना आवश्यक होगा। व्यक्ति अपने जीवन में कितनी आहार शुद्धि कर सकता है इस पर हमारे देश में ऋषियों ने हज़ारों वर्षों तक अन्वेषण करके जो निर्णय दिया है वह अति सुखद है इस भूमण्डल पर हिन्दुस्तान ही ऐसा देश है जहाँ अधिकांश में लोग निरामिष मिलते हैं। जो जातियाँ

मांस भोजी हैं उनके भी प्राय:नित्य के भोजन में मांस प्रविष्ट नहीं है। इतना ही नहीं जो लोग मांसाहार करते हैं वह भी उसमें कुछ हीनता का अनुभव करते हैं। इस से आगे बढ़ने के लिये जब लोग वैराग्य तथा त्याग के ज्वलंत उदाहरण सामने रखते हुए परिस्थितियों के बन्धन तोड़कर बिना पंखों से अपने ध्येयाकाश में उड़ने लगेंगे तब कहीं संसार उपयोगी अल्प स्वल्प बैराग्य का हममें संचार होगा। मांसाहार बन्द करने के लिये ऋषियों को कितनी तपस्या करनी पड़ी होगी। तब कहीं जाकर इतनी सफलता मिली।

सारांश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अन्नत त्याग कर के हमारे पूर्वजों ने जो कमाई की है हमें चाहिये कि उसे गंवावें नहीं। और हिन्दू संस्कृति को डुबावें नहीं। हमको केवल जीवित ही नहीं रहना है क्योंकि वह तो पशु भी कर लेते हैं। हमें आगे भी बढ़ना है। यदि कुछ समझ में न आए तो धर्म पर विचार की कैंची चलाओ। इस विचार रूपी कैंची से जो धर्म कट जाए वह बेकार है इस प्रकार काट-छाँट करते हुए जहाँ तुम्हारी विचार की कैंची कुंठित होने लगे वह वास्तव में धर्म है। अध जगे रहकर कुछ भी काम करने से मनुष्य गिर पड़ता है। अत: साधक को चाहिये कि सचेष्ठ होकर ही अपने आचार विचार को सँभाल ले।

आहार-शुद्धि से चित्त शुद्ध रहेगा। शरीर को भी बल मिलेगा। सेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्त में सन्तोष रहेगा और समाज में भी संतोष रहेगा।"

स्वामी जी ने अपना उपदेश बन्द किया समय भी बहुत हो चला था अत: पिण्डी दास जी ने बिदा माँगी। उन्हें विदा करते हुए स्वामी जी ने कहा।

"क्या आपने मुझे पहचाना ?"

"नहीं स्वामी जी।"

तब स्वामी जी ने पूर्व परिचय देते हुए अपनी प्रत्यक्ष साक्षात्-कार तथा नौकरी की याद दिलाई। वह सुन कर बहुत लज्जित हुए और क्षमा प्रार्थी हुए। स्वामी जी ने उत्तर दिया—

"इसमें क्षमा याचना की मैं कोई आवश्यकता नहीं समझता।" आप ही के इस कृत्य से मुझे यह अवस्था मिली। भगवान की बड़ी कृपा है।"

रायसाहेब ने विनम्र भाव से कहा—

"स्वामी जी कुछ मेरे कल्याण का भी मार्ग बताइये।"

स्वामी जी ने उत्तर दिया, "बस अब आप भी उसी मालिक की सेवा करिये जो सब का मालिक है। संसार के छोटे-छोटे मालिकों की, जो थोड़े में ही गरम तथा थोड़े में ही ठण्डे हो जाते हैं, इतना ही नहीं हाथी के बराबर सेवा कराते हैं और कुत्ते के बराबर भी नहीं देते, सेवा अब छोड़ दो और सच्चे मालिक की सेवा करो।"

बड़ी प्रसन्नता पूर्वक वह स्वामी को नमस्कार करके बिदा हुए।

शिमले में जितने दिन स्वामी जी रहे नाभा नरेश से अच्छा सत्सङ्ग होता। स्वामी जी के नित्य के कार्य क्रम में प्रातः, मध्याह्न के उपरान्त तथा सायं काल नित्य जहाँ भी वह रहते भजन का आयोजन रहता। एक दिन जब सत्संग में एक भक्त ने यह पद गाया।

भगवन् तुम्हारी खोज में जाएँ कहाँ-कहाँ।
नस-नस में भरा पाप दिखाएँ कहाँ-कहाँ॥
ज्वाला तुम्हारे वियोग की रग-रग में उठ रही।
सब तन में लगी आग बुझाएँ कहाँ-कहाँ॥
माया का जाल है बिछा सारे जहान में,
हैरान हैं कि पाँव बचाएँ कहाँ-कहाँ॥

स्वामी जी ने भजन सुनकर मुसकराते हुए कहा,

"भाई उसे ढूढ़ने के लिये कहीं आना जाना नहीं होता। "भगवान् कहते हैं—

"ईश्वरः सर्वभूतानं हृद्देऽशेर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।"

गीता १८।६१

क्या यह ठीक नहीं है ? अतः यह हमारी उसके लिये तलाश ही हमें उससे दूर रखे हुए है ।

जेती लहर समुद्र की तेती मन की दौड़ ।
चाह मिटी मन थिर भया वस्तु ठौर की ठौर ॥

अथवा—सहजेहि हीरा नीपजै, जो मन आवे ठौर ।

अन्त में फिर स्वामी जी ने यह पद गाया ।

मन्दिर में, घर में, दर में, कहाँ हूँ, कहाँ नहीं ।
तुझको मैं क्या बताऊँ, कहाँ हूँ, कहाँ नहीं ॥
नस-नस में हूँ बसा, हरइक ज़र्रे में हूँ रमा ।
आँखों में दिल में सर में, कहाँ हूँ, कहाँ नहीं ॥
खुद तेरा है इक़बाल, रमा हूँ, मैं बाऊ बाल ।
तू ही बता दे अब मैं, कहाँ हूँ, कहाँ नहीं ॥
मेरी तालाश तुझको, बहाना है रिया है ।
अब फिर से देख भाल, कहाँ, हूँ कहाँ नहीं ॥
अनहद की सदा गूँज रही, है यहाँ वहाँ ।
बँसिया बजाता अपनी, कहाँ हूँ, कहाँ नहीं ॥
बेफ़ायदा तालाश है, गर है खुदी की बू ।
अपने ही दिल में देख, कहाँ हूँ, कहाँ नहीं ॥
हर तन में हूँ मैं जान, हर इक जान में हूँ रूह ।
कहते हो 'शहन्शाह' कहाँ हूँ, कहाँ नहीं ॥

भक्त समाज को बड़ा आनन्द मिला । शिमले में धीरे-धीरे बड़े-बड़े धनी मानी, सेठ साहूकार तथा साधारण स्थिति के लोग आने लगे । वहीं से शाहन्शाही मस्ती आरम्भ हुई । उसके प्रवाह में प्रेमोन्मत्त होकर भावुक भक्त हिलोरें लेने लगे । बड़ी धूम मची । जिस समय

स्वामी जी शिमले से चले, तो नाभा नरेश ने उनका बड़ा सत्कार किया प्रेम से उनका गला रुंध गया वह केवल इतना ही कह सके,

मिलत एक दारूण दुख देहीं।
बिछुरत एक प्राण हरि लेहीं॥

उन्होंने स्वामी जी से फिर भी दर्शन देने को कहा।

शिमले से उतर कर स्वामी जी लाहौर की ओर चल पड़े। मार्ग में एक सज्जन से भेंट हो गई। जैसा कि आजकल लोगों का स्वभाव हो गया है। साधुओं को सशंकित दृष्टि से देखा करते हैं। उसी भाव से उन्होंने स्वामी जी से पूछ दिया।

"मन पर कैसे अधिकार जमाया जा सकता है?"

"अधिकार जमाने से पहले आवश्यक है कि मन और बुद्धि का अन्तर समझ ले। तत् पश्चात् बुद्धि से विचार तथा विवेक द्वारा मन पर अधिकार जमाए।"

उन्होंने फिर प्रश्न कर दिया, "स्वामी जी, ईश्वर का कौन सा नाम स्मरण करना चाहिये?"

स्वामी जी ने कहा, "जो नाम तुम्हें अच्छा लगे। ईश्वर के नामों में कोई भेद नहीं है। सच्चे मन से जप करने पर मन ठहर जाएगा।"

"अच्छा फिर क्या करें?" दूसरा प्रश्न हुआ।

तुरन्त हँस कर स्वामी जी ने उत्तर दिया,

"फिर क्या गुल्ली डण्डा खेले।"

वह व्यक्ति स्तम्भित रह गया। यह भी कोई उत्तर है। उसके भावों को समझते हुए स्वामी जी ने कहा, "अरे भाई मन को बस कर लेना ही समाधि सुख का उपभोग करना है। माया की गुल्ली और ब्रह्म का डण्डा बनाकर खेले और मौज उड़ाए।"

इस बार स्वामी जी कुछ दिन लाहौर में ठहर गए। इन्हीं दिनों में एक दिन सत्सङ्ग में एक सज्जन आए और सिर नीचा किए एक ओर

बैठ गए। सत्संग समाप्त होने पर और लोग तो चले गए परन्तु वह बैठे रहे। स्वामी जी ने उन्हें संकेत करते हुए कहा—

"क्यों उदास हो?"

"क्या कहूँ स्वामी जी एक दो कारण हो तो कहूँ पूरी सूची है दुखों की।"

"क्या तुम्हारे ही पास है कि औरों के पास भी होगी?"

"औरों की तो आप जानें। मै तो अपनी जानता हूँ।"

'मैं औरों की तो जानता ही हूँ परन्तु तुम्हारी भी जानता हूँ।"

उस व्यक्ति ने सिर उपर उठा कर स्वामी जी को बड़े ध्यान से देखा और एक उच्च स्वास लेकर बोला।

"आप जानते हैं और फिर भी मैं दुखी हूँ?" स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा—

"मैं तो तुम्हें दुखी नहीं समझता और यदि तुम अपने को दुखी मानते हो तो सत्य समझो अब तुम्हारा उत्थान होगा। जो मनुष्य गिरते-गिरते भूमितल तक आ गया है अब वह आगे गिर कर कहाँ जाएगा अब तो वह ऊपर उठेगा ही।"

"महाराज! अन्धा जब आँखें पाए तो समझे। मुझे बड़ा कष्ट है। इतना कह कर वह चुप हो गया। उसका दुख अब हृदय में सीमित न रह सका और बाहर निकलने का मार्ग ढूँढ़ने लगा। उस ने बहुत छिपाया परन्तु नेत्रों ने धोखा दिया और जल कण उसकी आँखों से लाख रोकने पर भी टपक ही पड़े। संत हृदय ने वह दृश्य देखा और अपने स्वभाव से वह भी विवश हो गया। तुरन्त शब्द हुआ।

'जाओ तुम में जाग्रति हो।" वह सुदामा की नाईं यह सोचता हुआ कि भोजन का ठिकाना नहीं, जाग्रति लेकर क्या करेंगे। कुछ द्रव्य मिलता तो अच्छा था। परन्तु क्या करता प्रणाम करके चल दिया! घर पहुँच कर उसने देखा कि उसका एक मित्र उसे एक स्थान

पर नौकरी के लिये ले जाने को बैठा था। तब उसे संत कृपा का अनुभव हुआ इसी प्रकार का चरित्र रायबहादुर लाला फ़कीर चन्द मल्लहन का है। वह भी बड़ी ग़रीबी की दशा में श्री स्वामी जी के सेवा में आए थे। वह फिर ऐसे कृपा पात्र हुए कि संसार में तो उन्हें ख्याति मिली ही उनका आध्यात्मिक स्तर भी बहुत ऊँचा है।

स्वामी जी के इस भ्रमण से जनता में बड़ा संतोष फैला और साथ ह साथ उनके भगतों में भक्ति, साधु सेवा, आदि गुण बढ़े, उनके जीवन में सरलता आने लगी और उनके मानसिक क्लेश घटने लगे। उनका आग्रह दर्शनों के लिये पुन: बढ़ा और स्वामी जी को लाहौर से चलना पड़ा। वह रेल में रक्षक (गार्ड) के डिब्बे में बैठ गये। गाड़ी छूटने पर रक्षक महोदय भी अपने डिब्बे में घुसे स्वामी जी को देख कर ऐसे प्रभावित हुये कि बलात् मस्तक झुक गया और हाथ दोनों परस्पर मिल गए। बोले

"प्रणाम"

" मन्द मन्द मुस्कराते हुए आप ने मस्ती में कहा

"रेल के रक्षक हो?"

"नहीं स्वामी जी मैं तो रेल विभाग का एक कर्मचारी हूँ।"

"क्या तुम समझते हो कि यह रेल भी किसी रेल पर सवार है?"

"क्या! यह रेल, रेल पर सवार है मैं नहीं समझा आप कुछ प्रकाश डालें तो समझूँ।"

"संसार की रेल काल की पट्रियों पर बड़ी तीव्रता से दौड़ रही है। मनुष्यों का जन्म लेना गाड़ी पर चढ़ना और मृत्यु उस पर से उतरना है। विपरीत परिस्थितियां नामरूपी टिकट देखती हैं। मानव चोला एक जङ्कशन है जहां से स्वर्ग, नरक, तथा अपवर्ग को लाइनें कटती हैं। अनेक योनियों में भ्रमण करते हुये प्राणी जब जङ्कशन पर आता है तब उसे अधिकार है कि चाहे जिस लाइन पर

चला जाए। यह रेल सतत चलती रहने पर असंगता का उपदेश देती है और गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देती है।

रक्षक महोदय इस प्रकार के अपर्व उपदेश से गदगद हो गए। उनके किसी पूर्व शुभकर्म के फल का उद्रेक हो गया था। उनके ज्ञान चक्षु खुल गये और वह स्वामी जी के बड़े प्रेमी हो गए उस कार्य भार से मुक्त होकर उन्होंने संसार से विरक्ति प्राप्त की और सन्त वासिल के नाम से प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि एक बार जब वह मेल ट्रेन से यात्रा कर रहे थे तो किसी स्टेशन पर एक (अंग्रेज) यात्री से बातें करते हुए आप ने इसलिए ट्रेन छोड़ दी थी कि उसने कहा था कि उनके ऐसा करने पर उसके अन्दर ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास हो जायगा। आगे चलकर जब उनके अफसर ने जिसने पहले उन्हें नौकरी से हटा दिया था जब वृत्तांत सुना तो बड़ा प्रसन्न हुआ। और उसके वेतन में बृद्धि कर दी।

सन्त वासिल जी बड़े उच्चकोटि के त्यागी सन्त हुए। उन्होंने बहुत सी कविताएँ लिखी हैं, जिनमें शाहन्शाही, मस्ती टपकती है। विस्तार मय से उनके विषय में अधिक न कहकर उनकी आध्यात्मिक उन्नति के फलस्वरूप उनकी एक कविता का उल्लेख करते हैं जिससे उनके विचारों पर प्रकाश पड़ेगा।

बसके आनन्द के परकाश का पैकर मैं हूँ।
हूँ अखंड आत्मा और नूरे मुनव्वर मैं हूँ ॥
काम और क्रोध से मद लोभ से रहता हूँ परे।
बुद्धि मन चित्त अहंकार के ऊपर मैं हूँ ॥
बस हुई दूर हुई दिल से मेरे ऐ वासिल।
सब अजीज़ अपने हैं और सब का ही फ़ादर मैं हूँ ॥

गाड़ी बड़ी तीव्र गति से दौड़ी जा रही थी। रात्रि व्यतीत हुई प्रातः काल हो गया। किसी कारण से वह किसी छोटे स्टेशन पर रुकी। स्वामी जी वहीं उतरने को उठ खड़े हुए।

"कहाँ आइयेगा ?" रक्षक महोदय ने प्रश्न कर दिया।

"बस जहां उतर गए।"

हैं सब बतन हमारे, हम सब के हम वतन हैं।
पूरब औ पश्चिम उत्तर,अहले दखिन हमारे ॥

"स्वामी जी यहाँ तो कुछ न मिलेगा। आप को कष्ट होगा ?

कष्ट संसार में कोई किसी को नहीं देता

सुख दुःख कर्मों के वश होवें, को काहू को देत।
रंक शहन्शाह जो जितना दे, उतना ही वह लेत ॥

बस इतना कह कर वह उतर पड़े। आन की आन में रेल चली गई। स्टेशन बहुत छोटा था। ऊषाकाल के झुटपुटे में वहाँ कोई न था। स्वामी जी ऐसे ही सरलता से वहाँ पर पड़ी हुई लम्बी बेंच पर बैठ गए। जैसा कि उनका आजीवन नियम रहा कि प्रातः सूर्योदय के पूर्व भजन बोलते थे। आप ने उसकी पूर्ति निम्नलिखित भजन से की।

सत की भोर भई, रज की रजनी गई।
तम की मोह आलस निन्द्रा तज, हरि भज मान कही ॥
पक्षीगण निज पक्षन के बल, वृक्षन और परिवार को तजकर।
सुधि निज लक्ष लही, शाहन्शाह तू भी हरि हिय धरि।
भवसागर कर पार, विसार असार गई सो गई ॥

उनके व्यक्तित्व तथा भजन से कुछ लोग आकर्षित हो गए। दैव योग से स्टेशन मास्टर महोदय एक नवयुवक थे। सत्सङ्ग भजन आदि को ढोंग समझते थे। साधुओं को नितान्त निरर्थक जानते थे। स्टेशन पर कुछ लोगों को जब भजन सुनते देखा तो वह भी वहाँ चले गए। और ऐसे ही स्वभाव वश स्वामी जी से पूछ बैठे—

"कहिये ! यह मस्ती कब से आ गई ?"

"जब से पस्ती दूर हुई।" तत्काल स्वामी जी ने उत्तर दिया।

"और पस्ती कब से दूर हुई ?"

"जब से बस्ती छोड़ी"

ऐसा स्पष्ट उत्तर था सब लोग हँस पड़े। और लोग जो स्टेशन मास्टर को जानते थे प्रसन्न हुए और सोचे कि आज इनकी बातों में आनन्द आएगा। उस युवक ने यह कहते हुए कि अच्छा है, पस्ती दूर करके मस्ती लिये रहो परन्तु आगे पता लगेगा कि यह मस्ती नहीं है केवल निरर्थक जीवन है, वहाँ से चलना चाहा, परन्तु स्वामी जी तो मानों उस पर कृपा करने के लिये ही वहाँ गए थे. बोले,

"भाई! मस्त तो तुम भी जान पड़ते हो, तुम्हें यह दशा कब से मिली।"

"स्वामी जी! मेरे पास समय है नहीं जो बेकार की बातों में आप से उलझूँ। मैं तो मस्त पैदा हो हुआ था।"

"ठीक है" स्वामी जी ने कहा, "इस दशा में सब ही जन्म लेते हैं। परन्तु सच सच कहना क्या अब भी वैसी ही मस्ती जीवन में बनी है?"

"हाँ स्वामी जी, मुझे यहाँ क्या आपत्ति है। गाड़ी निकल जाने के पश्चात् मस्ती ही तो है।"

"नहीं-नहीं। गम्भीरता से विचारो। जिस मस्ती की बात मैं कह रहा हूँ वह ऐसी नहीं है। तुम्हें जीवन में किसी वस्तु की कमी तो नहीं प्रतीत होती?"

"अरे स्वामी जी आप साधू हैं आप को क्या बताएँ जो जो कमियाँ मुझे यहाँ प्रतीत हो रही हैं। परन्तु हो ही क्या सकता है"
"नौकरी चाकरी नाकरी, का करी।"

"तो मस्ती में कमी है। क्या यह बात सत्य है? क्या वस्तु के अभाव में तुम प्रसन्न रह सकते हो?"

"भला ऐसा भी क्या हो सकता है, कि वस्तु न हो और सुख मिल सके?"

"हाँ! क्या मैं मस्त नहीं हूँ। किंचित विचार करना पड़ेगा। वस्तु प्राप्त होने पर किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है। उसके

पश्चात् उस समय तक जब तक कोई नई आवश्यकता मन में नहीं प्रतीत होती अथवा किसी नवीन अभिलाषा का जन्म नहीं होता उस बीच में मानसिक स्थिति किस प्रकार की होती है ?"

"स्वामी जी मेरी समझ में नहीं आता क्या उत्तर दूँ ।"

"अच्छा फिर देखा जाएगा ।"

वह युवक कुछ न बोला ! गहरे विचार में पड़ गया । इतने ही समागम से उस के संस्कार कुछ परिवर्तित हो गए । स्वामी जी से बोला,

"चलिये स्वामी जी क्वार्टर में चलिये । यहाँ तो धूप आ जाएगी ।"

स्वामी जी कुछ न बोले क्वार्टर में चले गए । नित्य नियम के पश्चात् भोजन किया और फिर विश्राम किया । रात्रि के समय वहाँ के सब लोग एकत्रित हुए । स्वामी जी ने हर एक से बारी-बारी से भजन बोलने को कहा । उन सबों में से एक व्यक्ति ने बड़ा मार्मिक भजन गाया ।

क्यों मन जीवन सार बिसारा ।
विषय परायण होय जगत् महँ, फिरै अन्ध मतवारा ॥
धन दारा-सुत काम न आवै, जिनपे किया सहारा ।
जिस जग, में तू भूल रहा है, दो दिन का है गुजारा ॥

स्वामी जी ने उस भक्त से पूछ दिया

"क्यों भाई जीवन का सार जानते हो ?"

"अरे स्वामी जी हम लोग अपढ़ भला जीवन सार क्या जानें । बस भगवान खाने पीने के दिये हैं दस पांच बिरादरी के लोग हैं, गिरे पड़े सहारा दे देते हैं । आप जैसे महापुरुषों के दर्शन हो रहे हैं यही सार है । और हम लोग क्या जाने ।"

"यह सब तो टिकने वाले हैं नहीं क्या यह सदा सुख देगे ?"

"अरे स्वामी जी सच तो यह है कि सुख तो राम नाम में है और सब तो चला चली का मेला है'

स्वामी जी उत्तर से बड़े प्रसन्न हुये। लगभग दस बजा होगा सब लोग धीरे २ चले गए। स्वामी जी का आसन खुले मैदान में लगा था। चारों ओर सन्नाटा था। स्टेशन मास्टर महोदय पास में बैठे हुए थे। शान्ति भंग करते हुए उन्होंने स्वामी जी से कहा

'मैं दिन भर आप की बात पर विचार करता रहा। मेरी समझ में नहीं आता। आप के द्वारा संकेतिक स्थान के विषय में मैं कोई शब्द नहीं जान पा रहा हूँ जिन से व्यक्त करूँ। आप ही बताइए ?' स्वामी जी तकिए के सहारे लेट गए और बोले, —

"जिस स्थान पर मन निःसंकल्प हो जाता है। वास्तव में उस क्षण क्षणिक समाधि में उतर जाता है परन्तु इस प्रकार का क्षणिक सुख तमोगुण आच्छादित होता है। इससे कोई आगे उन्नति नहीं होती। जीव को उसका अभ्यास नहीं होता। और उसे संकल्प न करने का अभ्यास भी नहीं होता। अतः वह तुरन्त कोई न कोई संकल्प हृदय में उठा लेता है और उसकी वह क्षणिक सुखावस्था भी नहीं रहती। अनेकों जन्मों के अभ्यास के कारण मानव यह सोच भी नहीं पाता कि उसका कब एक संकल्प समाप्त हुआ और दूसरा प्रारम्भ हुआ। यदि धीरे २ ऐसा अभ्यास बढ़ जाए तो फिर सुख मिलने लगे और फिर जीवन सार भी समझ में आ जाए।"

"स्वामी जी मैंने ऐसा तो कभी सोचा भी नहीं था। हम लोगों को तो यह बताया गया है कि इच्छाओं को बढ़ाने से ही विकास होता है। क्योंकि उन इच्छाओं की पूर्ति में ही अनेकों आविष्कार होते हैं और संसार की प्रगति होती है।"

"देखो! हमारे देश की विशालता। यहाँ यह नहीं कहा जाता कि तोबा करो, ईमान लाओ बस जन्नत मिली धरी है। अथवा पादरी से प्रमाण पत्र लिखवालो और जीवन में मौज उड़ाओ। धर्म के

विपरीत कोई बोला तो काफ़िर ठहराया गया। इस मूर्खता में पड़कर लोगों ने न जाने कितने निर्दोष व्यक्तियों को जीते जी जला दिया। परन्तु अपने यहाँ सब ग्रंथ बिलकुल खुले हैं जिस पर चाहो टीकाएँ लिखो। उनका खण्डन करो चाहे मण्डन करो। सिद्धांतों को क्रियात्मक कसौटी पर चढ़ाकर देख लो, और परख लो, फिर यदि लाभ जान पड़े तो मानों। आज मैं तुमसे बहुत गोपनीय बात कहता हूँ। इच्छाओं को बढ़ा कर उनकी पूर्ति के पश्चात जो व्यक्ति मनोनिग्रह करना चाहता है वह मानों सर्प से खेलता है।

विश्व में जब से इतिहास आरम्भ हुआ होगा उस समय से यदि कोई खोज करे, तो एक भी ऐसा नाम न मिलेगा जिसके विषय में यह कहा जा सके कि उसने इच्छाओं को तृप्त करके परम सुख पाया। आज भी दुनियाँ उन्हीं व्यक्तियों को याद कर रही है जा त्याग पथ पर चले और भोग सुख को तिलांजलि दे दी। किसी को औरंगज़ेब नादिरशाह, सिकन्दर आदि नाम भलेही न याद हों परन्तु सूर, तुलसी नरसी, मीरा आदि नामों में से कुछ नाम अवश्य याद निकलेंगे। यह है उन आत्माओं के जीवन में वस्तु के अभाव में मस्त रहने के कारण।"

बड़ा आनन्द रहा। स्वामी जी वहाँ कुछ दिन ठहर गए। जब वहाँ से चले तो स्टेशन के कर्मचारियों ने उन्हें बड़े सम्मान से बिदा किया और फिर कभी दर्शन देने को कहा। वहाँ से चलकर स्वामी जी कलकत्ते की ओर चले गए। मार्ग में अनेकों भक्तों को सत्सङ्ग का अवसर मिला। शाहन्शाही मस्ती छलकने लगी। भक्तों ने भावपूर्ण भजनों को कण्ठस्थ करना आरम्भ किया। जितने २ भजन भक्त कण्ठस्थ करते जाते स्वामी जी नित्य नए भजन लिखते जाते। धीरे धीरे उन भजनों का संग्रह किया गया तो वह पुस्तकाकार हो गए उनका नाम 'क़ाशिफुल्क़ल्ब, उर्फ़ पैगामेशहन्शाह' रखा गया। भजनों

का प्रवाह और बढ़ा। आवश्यकता पड़ने पर उसका हिंदी में संकरण छापा गया जो 'आत्म-रस भजनावली' के नाम से विख्यात हुआ।

स्वामी जी देश का पर्यटन करके लाहौर लौट गए। वहाँ उनकी अनुपस्थिति में भी भजन कीर्तन बड़े प्रेम से चलता था। उनका निवास स्थान धीरे २ सत्संग भवन बन गया। उस स्थान से जनता को कितना लाभ पहुँचा इसके लिये किसी प्रमाण विशेष की आवश्यकता नहीं है। उस समय के प्रमुख भक्तों में राय बहादुर फ़कीर चन्द मल्हन, श्री बिहारी लाल (बासिल जी) सर गङ्गा राम, लाला हरदयाल जी एम० ए०, सरदार भगत सिंह आदि के नाम बड़े आदर से लिये जाते हैं। और जो प्रेमी इस संसार में साधु वेश में ख्याति प्राप्त कर रहे हैं उनमें से सत्र श्री गोविन्दानन्द, श्रोमानन्द, सोभानन्द, सर्वानन्द, श्री हस स्वरूप जी तथा महर्षि सच्चिदानन्द जी हैं। श्री १०८ स्वामी त्यागानन्द जी का स्वामी जी से परिचय इन सबों से बहुत पहले का है।

स्वामी जी ने एक बार ही नहीं अनेकों बार देश पर्यटन किया। इस बीच में उनके आन्तरिक भक्ति, ज्ञान वैराग्य, त्याग आदि गुणों का विकास अन्तस्थल से बाहर निकला, लोगों ने उसके दर्शन किये और प्रभावित होकर वह भी आगे बढ़े। धीरे धीरे जब सत्संग का जमाव रङ्ग पकड़ गया और स्वामी जी महीनों बाहर रहने लगे तो एक दिन आपने मस्ती में कहा।

"कुटिया से है गरज़ न किसी क़स्र से है काम।
मिस्ले हवा रहेंगे, हर दिल में बसेंगे॥

और कुटिया सत्संग के लिए दान कर दी और निम्नलिखित दानपत्र (deed of gift) लिख दिया। और कुटिया खाली कर दी।

Whereas I known as Shahanshah Caste and creed divine by present birth Gaur Brahman and named Shree

एक भक्त ने पूछा।

"स्वामी जी! मनुष्यों की कौन कहे जंगली पशु भी गड्ढा खोद कर उसमें रहना चाहते हैं। पक्षी भी किसी न किसी डाल पर घोंसला बनाते ही हैं। आपने क्या समझकर बनी बनाई कुटिया छोड़ दी। अब क्या होगा?"

स्वामी जी हँस पड़े और बोले।

"अभी तो शिकारी मान्दों में घुस कर पशु को मौत के घाट उतार

Gopal whose crown lies in heart and not on head, nor decked with gems nor open to eves called 'Contentment.' A crown that seldom kings enjoy.

My property all is truth and peace
All struggles of life in me do cease.
I care for God; God cares for me,
My actions and thoughts are entirely free.

I hereby along with my nephew Pt. Madan Mohan, M. A (Railway clearing Accounts office, Delhi) gift our house known as Shahanshahi Kutiya inclusive of a temple situated in Shahanshahi Kucha Sutra Mandi Lahore to and unto the use of Sanatan Dharme Pratinidhi Sabha, Punjab Lahore, which name includes its heirs, successors and administrators with the subject of enjoying and holding the said Shahanshahi Kutiya for the celestia purpose, celebrating God gifted glory by enchanting hymns and holding Satsangs with all its rights of ownership and management.

It will be the duty of the administrators to spend the income of the Kutiya on its development.

Non my task is happily done,
I may stand or I may run,
All things I pretend to own,
They are of course from You as loan,
I humbly beg to return them Sire
Pray take me out from debts mire.

"But all credit is due to Mr. Madan Mahan for his generous obedience."

Sd. Shahanshah,

देते हैं। यदि उसको अपनी माँद से आसक्ति न हो तो दूर मैदान में भाग न जाए और अपनी जान बचाए। सुनो! असली शाहन्शाह वह होता है जो मेरे तेरे के बखेड़ों से परे रहता है।"

"शाहन्शाहे दो आलम हैं नहीं ख्वाहिश कोई बाक़ी।
कि हम ने दाम में अपने तमन्ना को फंसाया है"।

वह व्यक्ति चुप हो रहा। परन्तु उसके चेहरे से ऐसा जान पड़ा मानों उसे स्वामी जी के उत्तर से सन्तोष नहीं हुआ। स्वामी जी ने तुरन्त समझ लिया और बोले।

"क्या कुछ शंका है?"

"हाँ स्वामी जी! इसके बने रहने में आप जैसे सन्तों को क्या आपत्ति थी। यह वस्तुएँ आप को बन्धन में तो डाल नहीं सकती;"

"बन्धन ईंटों, गारे तथा किवाड़ों आदि से नहीं होता। वह तो अपनत्व की भावना से होता है। अपने छोटे कार्य से जब दूसरा कोई बड़ा कार्य उपस्थित हो तो अपने कार्य को समाप्त कर देना चाहिए। अब भी कुटिया जिस काम में आएगी वह कार्य हमारे रहने के कार्य से बहुत बड़ा है। मेरा अपना "मैं" इस शरीर के बाहर तुम्हारे सब के शरीरों में उतना ही भरपूर है, जितना कि कहीं और है। अतः अब मैं व्यष्टि से समिष्टि में प्रवेश कर गया हूँ। इसके पश्चात् आप ने संत कबीर का एक पद गाया।

साधो, सहज समाधि भली।
गुरु, किरपाते जा दिन जागी, अनुदिन बढ़त चली।
जहँ २ डोलूँ सोइ परिकरमा, जे कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजूँ और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सोई सुमिरन, खाऊँ पियूँ सोइ पूजा।
गृह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटाऊँ दूजा॥
आँख न (मूँदौं) कान न रूधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥

शब्द निरन्तर से मन लागा मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहूँ न छूटै, ऐसी ताली लागी॥
कह 'कबीर' यह उन्मनि रहनो, सो परगट करगाई।
दुःख सुख से कोई परे परम पद, ता में रह्यो समाई॥

सामान की हिर्स बेनवाई है यह,
दौलत की हविस, असल गदाई है यह।
हाजत है कम तो, तू है शहन्शाह,
और कुछ नहीं हाजत, तो खुदाई है यह॥

सब जुस्तजूए-माल में चर्खे की माल हैं।
और मानते हैं खुद को, कि वह मालदार हैं॥
ऐहले सबर "शहन्शाह" हैं, बाकी हैं सबकँगाल।
हैं साहिबे अकसीर वह जो ख़ाकसार हैं॥

वह भक्त तृप्त हो गया। प्रेमाश्रु नेत्रों से निकल कर वस्त्र भिगोने लगे। स्वामी जी ने बड़े स्नेह पूर्ण भाव से उसकी ओर देखकर कृताथ कर दिया।

स्वामी जी लखनऊ किस प्रकार आए यह एक महत्वपूर्ण विषय है। देश में भ्रमण करने के नाते स्वामी जी लखनऊ भी आया करते थे। परन्तु बहुत कम लोग उन्हें जानते थे। यह हम १९३६ की बात कर रहे हैं। उस समय कुछ लोगों ने यह अशुभ समाचार फैलाया कि स्वामी जी ने निर्वाण प्राप्त कर लिया। इस समाचार से चारों ओर बड़ा दुःख फैला। भक्तों ने दृढ़ संकल्प किया कि जब तक ठीक-ठीक सूचना न मिलेगी सतत् भगवत प्रार्थना होती रहेगी। "कुमार विला" गनेशगंज लखनऊ में चौबीस घण्टे अखण्ड श्री चौरासी छेदन पाठ के पश्चात् स्वामी जी के विषय में केवल उनका हस्त लिखित पत्र ही नहीं मिला वरन् श्री स्वामी जी स्वयम् लखनऊ पधारे। उनको अपने बीच में पाकर भक्त समाज के आनन्द का ठिकाना न रहा। एक विशाल उत्सव मनाया गया। भावुक जनता का दिन भर ताँता लगा

रहता। भोजन, भजन दोनों हर समय चलते रहते। नगर के प्रमुख धनमानी भक्त दर्शनों को आते अच्छा सत्संग होता। एक दिन एक सज्जन ने स्वामी जी से पूछ दिया।

"स्वामी जी! सब प्रकार के प्रयास करने पर भी भगवान् नहीं मिलते। क्या करें।"

"क्या तुम को उस परमात्ता की स्थिति पर विश्वास है।"

"हाँ स्वामी जी वह है तो अवश्य।"

"ऐसा तुम जानते हो कि मानते हो?"

वह सज्जन चुप हो रहे। इसी प्रश्न में उनका उत्तर छिपा था। सब लोग सन्नाटे में बैठे थे। कोई बोलता न था। शान्ति भङ्ग करते हुए स्वामी जी ने कहा, "इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है और न ही कोई अपराध है। हम सबसे बड़ी शिकायत अपने साधन में अपने मन की करते हैं कि वह भजन में नहीं लगता।

"हाँ स्वामी जी" उसने कहा "बात तो यही है।"

स्वामी जी ने बताया कि यह बहुत पुराना प्रश्न है। वह तो वहाँ लगता है जहाँ लगाया जाता है। यदि उसको हम उसके अपने स्वभाव पर छोड़ दें तब तो वह अपने से नीचे विषयों में स्वतः जाता है। उसे ऊपर उठाने के लिये यह आवश्यक है कि उसे ऊपर उठाया जाए। इसी कारण से धर्म ग्रन्थों में आचार्य, माता पिता आदि के चरणों में मन लगाने की बात कही गई है और यह कहीं नहीं लिखा गया कि अपने परिवार, स्त्री, पुत्र धन आदि में मन लगाओ वहाँ वह स्वतः लगता है।

फिर आपने कहा कि भाई उसे ठीक-ठीक ढूँढ़ो तो वह मिल जाए। और साफ़ बात तो यह है कि यह जो ढूँढ़ने की क्रिया है यही तुम्हें उस प्रियतम से पृथक किये है।

"किसी का राम काशी में, किसी का है मदीने में।
किसी का ज़र ज़मी ज़न में, किसी का खाने पीने में॥

कोई कहता गया में है, कोई चोरो शलम में है।
"शहन्शाह" राम अपना, यह तो हरजा है या सीने में ॥

आपने उस दिन सत्सङ्ग की समाप्ति निम्नलिखित पद से की।

बसा जिसके दिल में फ़क़त एक तू है।
वही ख़ूब सूरत वही ख़ूबरू है ॥
किसे ढूँढ़ता फिरता तू कूबकू है।
जो तालाश छोड़े तू ही हूबहू है ॥
जिसे ज्ञान से ध्यान से ढूँढ़ते थे।
ज़रा आँख खोली वही रूबरू है ॥
जो वहदत के दरिया में गोता लगाया।
रहे हम न तुम, न वहाँ मैं न तू है ॥
जिसे प्रेम का राग तेरे है भाता।
वह गाता सदा तू ही तू, तू ही तू है ॥
शहन्शाह जो तू हाथ दुनिया से धोले।
यही ग़ुस्ल है और यही बस वज़ू है ॥

इस भजन से सबों को बड़ा आनन्द मिला। लोगों ने जो स्वामी जी की प्रेम रस युक्त वाक पटुता देखी तो अवाक् रह गए। वास्तव में यह बड़े ऊँचे सन्त हैं। शहर में स्वामी जी जिधर निकलते उनके दर्शनों के लिए लोग काम छोड़ कर बाहर आ जाते और उनके विशाल वक्षस्थल तथा मस्तक को देख कर ब्रह्मचर्य्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते।

इस प्रकार से स्वामी जी की अमृत वाणी ब्रह्मचर्य्य पूर्ण तेजोमय शरीर, रहन सहन तथा व्यवहार ने भावुक जनता को अपनी ओर आकृष्ट किया। लोग यह सोचने लगे कि कदाचित ऐसा कोई प्रसङ्ग बनता कि स्वामी जी बार २ लखनऊ आते। इधर धीरे २ स्वामी जी की वाणी का भी प्रचार बढ़ रहा था। उनके प्रकाशन तथा प्रचार के लिये भी स्थान चाहिये था। इन समस्त बातों को

विचार में रखते हुए कुछ प्रतिष्ठित सज्जनों ने स्वामी जी से एक संघ को जन्म देने के लिए कहा, सन्त तो दयालु होते ही हैं। यह प्रार्थना स्वीकार कर ली गई। और लगभग सन् १९३८ में श्री शाहन्शाही सर्व हितकारी संघ का जन्म हुआ। जिस प्रकार से घर में बालक के जन्म लेने पर उत्साह मनाया जाता है। उसी प्रकार सब को बड़ी प्रसन्नता हुई।

उस समय सँघ के पिता रूप से तो श्री स्वामी जी थे ही और सहोदर रूप से सर्व श्री विश्वम्भर नाथ जी, ज्वाला प्रसाद जी, नानक प्रसाद जी, दरबार चन्द जी, श्री किशोरी लाल जी, राज कुमार जी तथा भुवनेश्वरी दयाल आदि भक्त समाज के लोग थे।

संघ को जन्म देकर स्वामी जी पुन: देशाटन को निकल पड़े। उस समय से स्वामी जी प्राय: लखनऊ आते रहते। संघ ने नवजात शिशु की भाँति भक्तों के कर कमलों द्वारा वृद्धि पाई। बटलर रोड पर पेपर मिल के सामने आदि गङ्गा गोमती के पवित्र तट पर भूमि लेकर सत्सङ्ग भवन निर्माण कराया गया। उसमें प्रत्येक रविवार को सत्सङ्ग होने लगा। जनता उस ओर बहुत आकृष्ट हुई। पूज्य श्री स्वामी जी की अपार दया तथा प्रेम से सब को लाभ पहुंचने लगा।

लखनऊ के पास पड़ोस में भी शीघ्र ही स्वामी जी का प्रभुत्व बढ़ा और बाराबंकी, राय बरेली, गोंडा आदि स्थानों पर भी भक्तों ने संघ की शाखाएँ निर्माण कीं। इस संबन्ध में सर्व श्री द्वारिका प्रसाद जी शुक्ल (जजसाहब) चन्द्र मोहन जी भटनागर, पं० चन्द्रशेषर जी मिश्र, श्री प्रताप सिंह जी राठौर, श्री त्रिभवन दयाल जी, श्री मती भजनेश्वरी जी, श्री विन्धेशवरी प्रसाद जी, श्री जैनारायण आदि की सेवाएँ सराहनीय हैं।

इन समस्त स्थानों पर सँघ का कार्य बड़े सुचारु-रूप से चलने

लगा। देहरादून के आगे राजपुर में जब श्री फ़क़ीर चन्द मलहोत्रा जी ने एक ग्राम सर्व हितकारी संघ की सेवा में अर्पित किया तो संघ का कार्यालय वहीं बनाया गया। उस स्थान पर अब एक ग्राम बस गया है। यह ग्राम अपने ढङ्ग का एक निराला देश है। सबों में एकत्व की भावना सत्य प्रेम का परिचय देती है।

स्वामी जी ने अपना प्रचार का सब कार्य इन संघों को सौंप दिया और आप सदैव के लिये निद्वंन्द विचरने लगे। इस बार वह आसाम की ओर चले गए और वहां गौहाटी में आसाम हाई कोर्ट के जज श्री राम लुभाय जी के स्थान पर ठहरे। उनके भजनों को सुन कर वहाँ का शिष्ट समाज बड़ा प्रभावित हुआ। उनमें से अनेकों ने स्वामी जी कृत श्री चौरासी छेदन का नित्य पाठ करने का नियम लिया। वहाँ से चल कर आप कलकत्ते में अलीपुर में लाला फकीर चन्द जी के स्थान पर कुछ दिन ठहरे और वहाँ से नदिया होकर पटना पहुँचे। नदिया में आप का भव्य स्वागत किया गया। आप बंगाल कोआपरेटिव सोसाइटी के प्रबन्धक महोदय के अतिथि हुए।

एक दिन जब वह प्रात: काल टहलने के लिये निकले तो पास की मसजिद में आज़ान हो रही थी। आप भी वहाँ थोड़ा रुके। उनके शरीर को देख कर बहुत से मुसलमान भाई बड़े प्रभावित हुए। उनमें से एक ने कहा —

"आप का मुबारक मुक़ाम कहाँ है ?"

"जहाँ हज़रत का है।"

"और आप का इस्म शरीफ़ ?"

स्वामी जी ने कहा "तुम्हारा इससे क्या मतलब ?"

"ऐसे ही मैंने आप को जो देखा तो जान पड़ा कि आप कोई बड़े दरवेश हैं।"

"यह तो तुम्हारी अपनी निगाह है तुमने मुझे जैसा समझा होगा मैं वैसा ही हूँगा।"

उसने फिर भी आग्रह किया िया

"हज़रत नाम से तो वाक़फ़ियत कराइये।"

आप ने यह ग़ज़ल पढ़ दी—

क्या पूछते हो यारों, क्या नाम है हमारा।
बे नाम भी हमी हैं, हर नाम है हमारा॥
घर दर की तुम जो पूछो, बे घर बनो तो समझो।
हर ठौर है हमारा, हर धाम है हमारा॥
क्या ताब है किसी की, पूँछे जो हो मुक़ाबिल।
बतलाना ऐ 'शहन्शाह' क्या नाम है तुम्हारा॥

स्वामी जी के इन बचनों से सब लोग बड़े प्रभावित हुए। स्वामी जी टहलने चले गए। उन लोगों ने स्वामी जी के ठहरने के स्थान का पता लगाया और सायंकाल सत्संग के समय पहुंचे। दैव योग से श्री चौरासी छेदन का पाठ हो रहा था। सुन कर वज्द में आ गए। फिर बोले स्वामी जी —

"कुछ कलाम सुनाइये।"

स्वामी जी ने निम्नलिखित पद सुनाया

ज़िन्दगी पाके भी ज़िन्दाँ, से न निकला जो बशर।
हैफ़ है जीने पै, मर जाना है उसका बेहतर॥
ज़िन्दगी पाई है, क्यों हक़ से बता शाहन्शाह।
इसलिये ताकि रहे ज़िन्दा कभी जाए न मर॥

पटने से चल कर स्वामी जी कुछ दिन फ़ैज़ाबाद में रहे। वहाँ से रायबरेली होते हुए लखनऊ आए। यहाँ गोमती तट पर संघ के नए स्थान पर एक विशाल उत्सव मनाया गया। शाहन्शाही प्रेमी दूर-दूर से आए। संगीत कला का विशेष प्रदर्शन किया गया। भजन भोजन का बड़े सुचारू रूप से प्रबन्ध था। लखनऊ से चलकर स्वामी

जी राजपुर पहुँचे। वहाँ चातुर्मास करके पुनः भ्रमण के लिये निकले। इस बार मध्य भारत में पर्यटन करते हुए आप दक्षिणी भारत की यात्रा में गए। मद्रास में भी बहुत से लोग आप के अनुयायी बन गए। आपके द्वारा लिखित अंग्रेजी की कविता की पुस्तक "Spiritual Doses को उधर बड़ा सम्मान मिला। लगभग पाँच छः महीने की यात्रा के पाश्चात् आप पुनः राजपुर लौटे।

श्री स्वामी जी के प्रेमियों का वृत्त विशाल और विस्तृत है। शाहन्शाही प्रेमी न केवल एक प्रान्त में किन्तु प्रत्येक नगर में मिलते हैं। इन से परिचय मिलने पर श्री स्वामी जी की उदारता, सहिष्णुता, शील, वाक्पटुता, स्वतन्त्र विचार विश्व प्रेम, दीनों के प्रति सद्भावना तथा उनकी सेवा आदि अनेकों सद्गुणों का पता चलता है।

महापुरुष भूत भविष्यत तथा वर्तमान काल तीनों की परिस्थितियों को करतल गत आमलक के समान जानते हैं। उन्होंने अपने जीवन की अन्तिम घड़ियों को पहले से ही देख लिया था और शान्तिपूर्वक कलेवर छोड़ने के लिये आप राजपुर का सब प्रबन्ध ठीक करके एक बार फिर भ्रमण के लिये चल पड़े और ऐसा रमित हुए कि महाप्रयाण के पथ पर अग्रसर हो गए।

—:❀❀०❀❀:—

महा प्रयाण

जा मारने से सब जग डरे, मेरे मन आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरण परमानन्द॥

मानव का मरण त्रिकाल में भी नहीं होता। उसका केवल कलेवर बदलता है, जिसके लिये भगवान् कहते हैं,

"वासाँसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहायजीर्णान्यन्यानि
संयाति नवानि देही गीता॥२।२२॥
तन छूटत है जीव का, नहिं छूटत हैं प्राण।
जिमि नूतन पट पहिर कै, नर परि हरै पुरान॥

एक महात्मा का कहना है कि वास्तव में पाँच तत्वों का एकत्रित हो जाना ही पिण्ड का बनना है और उनमें प्रथकत्व हो जाना ही प्रलय है। जिस प्रकार का प्रलय का रूप हमें अपने यहाँ की धार्मिक पुस्तकों में मिलता है उसी प्रकार की प्रलय हमारे इस छोटे से पिण्ड में भी हुआ करती है। वैज्ञानिकों की सूझ है कि शरीर के अवयव सदैव बदलते रहते हैं। और लगभग बारह वर्ष के पश्चात् शरीर में समस्त बातें बदल जाती हैं। उनमें से प्रत्येक का एक अपना नूतन स्वरूप सामने आ जाता है। वस्तुत: यदि प्रकृति में प्रतिक्षण परिवर्तन न हों तो संसार का सौन्दर्य नष्ट हो जाए। अपरिवर्तनशील एक रस वस्तु में सौन्दर्य तथा रस तो केवल ब्रह्मनिष्ट महात्मा को भले ही मिले। सर्व साधारण के लिये तो वह नीरस प्रतीत होगा।

पृथ्वी के गर्भ से आज एक गुलाब का छोटा सा वृक्ष उठ खड़ा हुआ। पक्षियों तथा भौंरों को बड़ा हर्ष हुआ कि उस पर सुन्दर पुष्प लगेगा। मनुष्य ने भी उसे देखा परन्तु उस समय वह बहुत सुन्दर न

जान पड़ा। धीरे-धीरे समय आने पर वह पुष्पों से सुशोभित हुआ। उसके सौन्दर्य का क्या कहना। सभी उससे प्रेम करते हैं। भौंरे हर समय उस पर मँडरा-मँडरा कर गुन गुनाते हैं। परन्तु अपनी मस्ती में शायद वह यह नहीं देख पाते कि जिस परमेश्वर ने उस पर इतना सुन्दर पुष्प लगाया है उसने उसकी डाल में काँटे भी लगा दिये है। जिस पृथ्वी तत्त्व से पुष्प को गुलाबी रङ्ग का सौन्दर्य मिलता है उसी से उन काँटों को भी रस मिलता है। कविकुल श्रेष्ठ रहीम जी कहते हैं—

को कहि सकै बड़ेन सों, लखै बड़ी यह भूल।
दीन्हें दई गुलाब में, इन डारिन वे फूल॥

उस विधाता की प्रत्येक बात में तत्त्व होता है। आज संसार पुष्प चाहता है। काँटों को नहीं चाहता। जीवन में दुःख रूपी काँटे ही सुख रूपी पुष्प के रूप माधुर्य का आस्वादान कराते हैं। पुष्प को खिलाकर क्या प्रकृति अपना काम बन्द कर देती है? नहीं! उसे चैन कहाँ। आज कोई फूल खिलकर पूर्ण सौन्दर्य तक पहुँचा परन्तु कल? कल उसका वह रूप न रहेगा। वही प्रकृति जिसने कल उसका भरण पोषण किया था आज उसे नीचे उतार रही है। एक दार्शनिक गुलाब के वृक्ष की प्रत्येक परिस्थयों में परिवर्तन में भी अपरिवर्तन देखता है। उसकी दृष्टि में वह वृक्ष त्रिकाल में भी नहीं हुआ उसे तो ऐसा जान पड़ता है कि इस मिट्टी ने ही पत्तियों में हरेरी, पुष्प मैं गुलाबी सौन्दर्य, काँटों में कठोरपन आदि बातें धारण करली हैं और उन सब का अन्त भी उसी मृतिका में हो जाता है।

हज़ारों गुल खिले इस गुलशने
आलम में ऐ जानी।
न गुलशन ही रहा आख़िर,
न गुल और बाग़बाँ बाकी

सारी सृष्टि अपने आदि कारण से जन्म लेती है। उसके पूर्व में उसका अव्यक्त रूप होता है। वही अव्यक्त कुछ काल के लिए

व्यक्त हो जाता है। और फिर थोड़े काल के पश्चात् अव्यक्त हो जाता है। यही सृष्टि क्रम है। समझदार व्यक्ति पुष्पों को चाहता नहीं है और काँटों से घृणा नहीं करता। उसकी दृष्टि में वह डाल एक ही है जिसमें काँटे लगे हैं और फूल खिला है। परन्तु ऐसे महान् पुरुष बहुत कम हैं। अधिकाँश तो ऐसे ही व्यक्ति मिलेंगे जो पुष्पों को स्वीकार करते हैं और काँटों के प्रति उपेक्षणीय भाव रखते हैं। परन्तु काँटे। वह क्या निरर्थक हैं? नहीं। उनका अपना स्थान है। इतना ही नहीं लोग कहते हैं—

रफ़ीकों से रक़ीब अच्छे,
जो जल कर नाम लेते हैं।
गुलों से ख़ार अच्छे हैं,
जो दामन थाम लेते हैं॥

जीवन रूपी पुष्प में कांटे हीं हमें उन्नति के मार्ग पर अग्रसर कर देते हैं।

गुलिस्ताने जहाँ में फूल भी हैं और काँटे भी।
मगर जो गुल के जोया हैं। उन्हें क्या ख़ार का खटका॥

कटंकाकीर्ण मार्ग पर चलना सरल नहीं है। बड़ा साहस होना चाहिये। इस साहस के लिए संसार में सन्त हृदय ही बना है। शेष समाज को यदि कोई पुष्प तोड़ दे तो उसकी सुगन्ध से आनन्दित हो लेंगे। कांटों से भागेंगे उनके सामने विपरीत परिस्थति आई और उन्होंने साहस छोड़ा। क्या भला हम महाराज हरिश्चन्द्र, महाराज रंतिदेव, माता कुन्ती, आदि २ महापुरुषों को भूल सकते हैं। भौतिकवाद के उच्च शिखर पर पहुंच कर भी उन्होंने उस में अध्यात्म के दर्शन किए। जिन्होंने जीवन में 'सर्व भूत हिते रताः' को चरितार्थ करके दिखाया उन लोगों को काल ने अपनी मर्यादा में बांधा। संसार से जाना अनिवार्य है। कौन उस विधान से

बच सकता है। परन्तु संत महात्मा अपने आत्मिक बल से अपने महाप्रयाण के विषय में जान लेते हैं। और ठीक जैसे रेल पर जाने वाले यात्री अपना सब कार्य ठीक करके सामान बांध कर स्टेशन पर रेल की प्रतीक्षा करता है ऐसे ही यह सन्त संसार के मोह माया से नाता तोड़ कर अपने साथ में लगे हुए बखेड़ों को छोड़ कर ब्रह्म में लीन होने की प्रतीक्षा करते रहते हैं। यह कोई नई बात नहीं है। बहुत से उदाहरण इस प्रकार के मिलेंगे। इन सन्तों को संसारी व्यक्ति चाहे जितनी यात्नाएँ दें परन्तु वह हंसते २ उन्हें झेल लेते हैं। एक संत की लोगों ने खाल खिचवाई, एक को सूली पर चढ़ा दिया और एक को गोली मार कर मौत के घाट उतारा। ऐसे न जाने कितने उदाहरण आप को इतिहास के पृष्ठों में मिलेंगे।

ठीक इसी प्रकार की बात आप को श्री शाहन्शाह जी के जीवन में मिलेगी। ब्रह्मचर्य्य का प्रताप भीष्म पितामह में चमका और आधुनिक काल में इन पुनीत सन्त में मिलता है। इनका समस्त जीवन मस्त रहा। मस्ती की कमी नहीं थी। इसी प्रकार उन्होंने उतनी ही मस्ती से अपने पांच भौतिक कलेवर को बदला। आश्रम पर जब जब लोग कभी संसार की नश्वरता का संकेत करते तो आप हँस देते। भारतवर्ष का भ्रमण ता आप ने अनेकों बार किया था। भक्तों का विचार हुआ कि सर्व हितकारी उद्देशों का प्रचार विदेशों में किया जाय। कुछ ऐसे भी लोग थे जो स्वामी जी के इन विचारों को भला नहीं समझते थे परन्तु सन्मुख कहते नहीं थे। उन्हीं दनों में आप कहते कि क्या वह ईश्वर के पुत्र नहीं हैं? उनमें भी सत्य प्रेम का वीज है। भावुकता की कहीं कमी नहीं है। हां अन्तःकरण की भूमि को सदोपदेशों से सिंचन करने की आवश्यकता है। अतः इस कार्य के लिए वह विदेश जाएँगे। धीरे २ भक्तों में यह चर्चा फैलने लगी। एक व्यक्ति ने स्वामी जी से पूछा।

"कब तक के लिए पासपोर्ट बनी है ?"

"अजी अनन्त काल के लिए।" आप ने हँस कर उत्तर दिया।

"इसका मतलब ?"

"जब यहां से पासपोर्ट बन गई फिर क्या बात है। सुनो जी जिसकी पासपोर्ट यहां से बनी है वह फिर यहां से गया उसके लौटने की क्या आवश्यकता ?"

स्वामी जी की इन गूढ़ बातों को भला कोई क्या समझ पाता वास्तव में वह त्रिकालज्ञ थे। वे एक ब्रह्मनिष्ट महात्मा के पद से बोल रहे थे। साधारण व्यक्ति भला उसे क्या समझता।

राजपुर में सभा की गई। स्वामी जी ने आश्रम के प्रबन्ध का कार्य भार कार्य कारिणी समित के अर्पण कर दिया और आप देशाटन के बहाने वहां से निकल पड़े

राजपुर से अक्टूबर सन् १६५२ को चलकर वह कानपुर आए। वहाँ उस समय अखिल भारतीय सन्त सम्मेलन हो रहा था। वहाँ से लखनऊ होते हुए दिल्ली पहुँचे और वहाँ पहले श्रीमान् भगवती प्रसाद जी सरीन के निवास स्थान नं० ७ बारह खम्भा लेन न्यू देहली और फिर २३ फ़ीरोज़शाह रोड न्यू देहली में ठहरे। यहाँ उनकी मौज हो गई और लगभग फरवरी सन् १३५३ तक वहीं रहे। इस बीच में उनकी आभा विचित्र प्रकार की थी। वाणी में ओज तथा वचनों में गम्भीरता का रस टपकता था। यह बात तो अब समझ में आती है कि बुझते दीपक में अधिक प्रकाश होता है। उनमें इतना आकर्षण बढ़ गया था कि जो कोई भी देखता प्रभावित हो जाता। इतने बयोवृद्ध होते हुए मुख पर वृद्धावस्था का कोई चिन्ह नहीं था। ब्रह्मचर्य्य के तेज के कारण उन्हें देखकर भीष्मपितामह की याद आ जाती थी।

एक दिन स्वामी जी ताँगे पर जा रहे थे। साथ में एक और व्यक्ति बैठ गया। कुछ देर तक स्वामी जी के शरीर गठन को देखता

रहा। उसके मन में जिज्ञासा उत्पन्न हो गई कि वह उनके विषय में जानकारी प्राप्त करे। उससे न रहा गया और पूछा,

"आप कहाँ रहते हैं महाराज ?"

"जहाँ सब रहते हैं वहाँ तो रहता ही हूँ और जहाँ कोई भी नहीं रहता वहाँ भी रहता हूँ। परिचय प्राप्त करने के नाते उसने फिर पूछ दिया।"

"आप का नाम ?"

आप ने फिर मस्ती में उत्तर दिया।

"पता नामों निशाँ रखने से उनका है नहीं मिलता।
पता उनका मिलेगा ऐ शहन्शाह बेनिशाँ बनकर ॥

उसने सोचा बड़े विचित्र जान पड़ते हैं यह। इतनी बातों से कुछ पता तो लगा नहीं। परन्तु यह महात्मा अवश्व होगें और अच्छी श्रेणी के होंगे। उसने पुनः पूछ दिया कि स्वामी जी मुझे आप से बहुत सी बातें पूछनी हैं आप मुझे कहाँ मिल सकते हैं। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि बहुत पूछताछ से कोई लाभ नहीं। उलटे हानि हो सकती है। उन्होंने उस व्यक्ति से पूछ दिया।

"तुम्हें जो कुछ पूछना हो वह तो तुम जानों, मैं यह पूछता हूँ कि तुम क्या जानते हो ?"

प्रश्न कोई कठिन नहीं था। परन्तु वह व्यक्ति कुछ विचार में पड़ गया फिर बोला—

"सर्व साधारण बातें जिनका मनुष्य से सम्बन्ध है वह थोड़ी बहुत जानता हूँ !"

"उन्हें तुम मानते भी हो ?"

"जी हाँ मानता भी हूँ।"

"यदि यह सच है तो तुम्हें बहुत सी बातों के विषय में पूछने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। क्योंकि हमारे यहाँ के मानव धर्म

की साधारण बातें अन्य देशों के उच्च नियमों से बहुत ऊँचे स्तर की हैं।"

"अच्छा स्वामी जी आप कहाँ ठहरे हैं यह तो मैं समझ लूँ तो फिर कभी आप के दर्शन करूँ। स्वामी जी ने अपना निवास स्थान बता दिया। वह चला गया। मार्ग में सोचने लगा वास्तव में मुझे जिन की खोज है वह महापुरुष मिल गए। सायंकाल को वह पुनः आया। सत्संग हो रहा था। लोग स्वामी जी को भजन सुना रहे थे। जब उसकी बारी आई तो उसने भी यह पद गाया—

"तुम्हीं को हे आनन्द घन चाहता हूँ।
जगत का न कोई भी धन चाहता हूँ॥
मैं चाहूँ वही जो कि तुम चाहते हो।
मैं चाहों का अपनी दमन चाहता हूँ॥
जहाँ मन फँसा हो मेरा झंझटों में।
वहीं पर मैं उसका शमन चाहता हूँ॥
मिले शान्ति जैसे मेरे मन को स्वामी।
मैं ऐसा हि साधन भजन चाहता हूँ॥
किये हैं न कोई भी साधन प्रभू जी।
'पथिक' मैं तुम्हारी शरण चाहता हूँ॥

भक्त समाज पद सुन कर बड़ा प्रसन्न हुआ। धीरे से एक व्यक्ति ने कहा—

"इन से एक और पद सुनिये। बड़े भावुक जान पड़ते हैं।"

स्वामी जी मुसकराते हुए बोले,

"कुछ और बोलोगे?"

"जो आज्ञा हो"

"अच्छा एक और सही।"

उस व्यक्ति ने पुनः दूसरा भजन सुनाया।

जैसै राखहु तैसै रहौं ।
जानत हौ दुख सुख सब जन के, मुख करि कहा कहौं ॥
कबहुँक भोजन लहौं कृपानिधि, कबहुँक भूख सहौं ।
कबहुँक चढ़ौं तुरङ्ग, महा गज, कबहुँक भार बहौं ॥
कमलनयन घनश्याम मनोहर, अनुचर भयौ रहौं ।
'सूरदास' प्रभुभक्त कृपानिधि, तुम्हारे चरण गहौं ॥

वाह वाह के शब्दों से स्थान गूँज उठा, इसके पश्चात् स्वामी जी ने सत्संग समाप्त करते हुए यह पद सुनाया—

"ख़ुद को इतना मिटा कि तू न रहे ।
और तुझ में दुई की ख़ू न रहे ॥
आरज़ूए विसाल परदा है ।
आरज़ू है कि आरज़ू न रहे ॥
जुस्तजुए हिजाब हसनीं है ।
जुस्तजू है कि जुस्तजू नरहे ॥

दिल्ली में तीन महीने का समय आन की आन में निकल गया । जब स्वामी जी वहाँ से आगे चलने को उद्यत हुए तो भक्त लोग मानों सोते से जागे हो । बड़ा आग्रह हुआ कि अभी स्वामी जी न जाँय परन्तु यह कब तक हो सकता था । स्वतंत्र महापुरुष को कौन रोक सकता था । स्वामी जी सबको आश्वाशन देकर देहली से आगरा आए । कुछ दिन ठहर कर वहाँ से नागपुर पहुँचे । वहाँ तेजा सिंह जी सच्चदेव मिले । स्वामी जी वहाँ भी न रुके और बिलासपुर होते हुए अमर कंटक पहुंच गये । धीरे धीरे मार्च का महीना भी समाप्ति की ओर चल पड़ा । दिनांक २३ मार्च को उन्होंने तेजासिंह से कहा—

"सुनो तेजा ! अब तुम कलकत्ते होते हुए दारजिलिंग पहुँचो । हम भी शहडोल, इलाहाबाद होते हुए उधर आजाएँगे । और सुनो ! पहली अप्रैल को गाड़ी पर सवार होंगे ।"

"जो आज्ञा" ऐसा कहकर भाई तेजा सिंह उनसे बिदा हुए और स्वामी जी शहडोल की ओर चल पड़े। वहाँ वह पंचायती मन्दिर में ठहरे। मन्दिर की दशा जैसी कि आज कल के मन्दिरों की होती है उसी प्रकार की थी। प्रबन्ध बहुत अच्छा नहीं था। सायंकाल को जब लोगों ने उनके नाम तथा निवास स्थान के विषय में जानकारी प्राप्ति करनी चाही, तो आपने मस्ती युक्त उत्तर से अपनी महानता का परिचय दिया फिर तो एक सज्जन ने उनसे प्रश्न करने प्रारम्भ कर दिये। उनसे पूछा

"स्वामी जी, मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु कौन है?"

"स्वतः अपना मन जो अपने वश में न हो।"

"महाराज! दुखों का कारण किसे मानना चाहिये।"

"द्वैत दर्शन"

"सुन्दर उपदेश बार बार सुनने पर भी बेकार जाता हुआ सा जान पड़ता है। ऐसा क्यों है?

"विचार और अभ्यास की कमी के कारण ऐसा होता है।"

"संतत् क्या करना चाहिए?"

"जिससे अपना और दूसरों का यथार्थ हित हो।"

"यथार्थ हित किसको कहते हैं।"

"जीव को जीवत्व के बन्धन से मुक्त करा देना यथार्थ हित है।"

"महाराज! आप के विचार से धनी कौन है?"

"जिसके पास धर्म का धन है।"

"धर्म क्या है?"

"वही जो सब देश में, सर्वकाल में, सर्व हित की भावना से धारण किया जा सके।"

सम्भवतः यह स्वामी जी के साथ भक्तों की अन्तिम प्रश्नोत्तरी थी। इतने सुन्दर उत्तर जो सर्वहित की भावना से उस महा पुरुष ने हम को दिए जीवन दर्शन कराते हैं और मानव चोले को सार्थक

करते हैं। कुछ दिन इसी प्रकार से बीते। वह समय निकट आ गया जिसका टलना सम्भव नहीं था। वह दिन जो सबके लिये आता है। जीवन भर में यदि कोई अकाट्य सत्य घटना हो सकती है तो वह उस दिन ही घटती है जिसके विषय में स्वामी जी स्वयम् कहते हैं

"तुझे इस दारे फ़ानी से सफ़र दर पेश आना है।
कि जिसके वास्ते हीला हैं न कोई बहाना है॥"

"स्वामी जी को हलका सा ज्वर होने लाग था। वहाँ के एक वैद्य ने उसका उपचार किया परन्तु औषधि लाभ प्रद न हुई। रेचन क्रिया के बढ़ जाने से अस्वस्थता बढ़ने लगी। स्वामो जी ने वहाँ अपने व्यक्तित्व को प्रगट न होने दिया। नाम ग्राम पूछने पर अपने बाल्य काल का परिचय दे दिया। अब उनको गोपाल ब्रह्मचारी के नाम से भला कौन जानता। अब तो वह शाहन्शाह हो गये थे। परन्तु न जाने क्यों उन्हें 'रंक' अधिक रुचिकर लगा।

रोग को बढ़ता देखकर पुजारी को चिन्ता हुई और उसने स्वामी जी से पूछा—

"बाबा! तुम्हारे कोई है नहीं क्या?"

आप ने फिर भी मौज में कहा—

"मेरे सब कोई हैं। साधुओं के तो सभी होते हैं वैसे जो इस समय काम आवे। और क्या तुम मेरे नहीं हो?"

पुजारी इस उत्तर से कुछ लज्जित हुआ। उसने सोचा कि यह अनाथ जान पड़ते हैं। बूढ़ा शरीर है न जाने कैसी बीते। पुलिस को सूचना देनी चाहिये। ऐसा सोचकर उसने शहडोल के थाने में सूचना भेज दी।

ओफ़! काल कितना बलवान् होता है। पाठक सोचें! श्री स्वामी जी को उसने अनाथ समझा! जीवन में न जाने कितने अनाथों को स्वामी जी ने सनाथ किया। जिनका इतना बड़ा परिवार, समस्त देश में परिचय, अगणित धनी मानो जहाँ चरणों में बैठते थे आज उन्हीं

को उस व्यक्ति ने असहाय समझा। और वह इस दशा में २६ ता० को सोहागपुर के राजकीय हस्पताल में भरती किए गए। यह अवसर, यह कष्ट और यह एकांत। यदि तनिक भी सूचना मिलती तो कदाचित् आन की आन में कितने ही आदमी दौड़ पड़ते। परन्तु सन्त ने सांसारिक बखेड़ों से अपने को अलग रखने के लिए ही तो ऐसा किया था। लोग सशंकित थे अवश्य। ऐसा भव्य शरीर, यह अवस्था, यह ज्ञान और यह असहायता। यह बातें आश्चर्यजनक जान पड़ती थीं। परन्तु उस गुप्त भेद को कौन खोलता ? जब वह ईश्वर स्वतः अपने को छिपाये है तो भला फिर दूसरा उसे कैसे जान सकता है?।

"समय बली अति होत है, पुरुष नहीं बलवान्।"

दो दिन और बीते। दशा में सुधार न हुआ। हस्पताल के कर्मचारियों ने यथा शक्ति उपचार किया। वह हस्पताल बहुत बड़ा तो था नहीं। अन्त में वह दिन आ ही गया जो सब के लिए आता है। इस दुर्घटना की सूचना भक्तों को यत्र तत्र मिली तो परन्तु वह स्वप्न में मिली। किसी को वह बिस्तर बाँधते हुए, किसी को मोटर पर बैठते हुए तो किसी के यह संकेत करते हुए कि "उठो देखो! अब मैं जा रहा हूँ"

दिनांक २ अप्रैल सन् १६५३ को भारत के प्रमुख पत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ।

"शहडोल स्थित सोहाग पुर हस्पताल में पहली अप्रैल की रात्रि में भारत के सुप्रसिद्ध सन्त महात्मा शाहन्शाह जी महाराज ने महा प्रयाण किया।"

भक्त और भगवान में जो सम्बन्ध है वह एक विलक्षण देन है। सब उसको नहीं जान सकते। द्रौपदी की आह पर गजेन्द्र की पुकार पर वह दौड़े। वह कोई विचित्र पुकार होगी! हम आज के पामर जीव प्रथम तो उस पर विश्वास नहीं करते और यदि थोड़ा बहुत करें भी तो सशंकित रहते हैं। ऐसे ही जिसे प्रभू अपनी ओर खींचते हैं,

वह आकर्षण भी जाना नहीं जाता वह उस ओर बलात्कार खिंचता चला जाता है। उसे इस आकर्षण का पता तब चलता है जब कि वह वहाँ पहुँच जाता है।

इस प्रकार के आकर्षण का कोई आकार नहीं होता। वर्तमान युग में आकाशवाणी(Radio)में विद्युत् की अदृष्य लहरों की करामात छिपी नहीं है। विदेशों में होने वाले भाषण तत्काल विश्व भर में सुने जाते हैं। दिखाई कुछ नहीं देता। समस्त आकाश उस प्रकार की विद्युत् लहरों से भर पूर है। जहाँ-जहाँ उनको ग्रहण करने वाले यंत्र हैं वहाँ उन लहरों के द्वारा भेजी सूचना जान मिलती है। इसी प्रकार सन्त साधारण बस्ती से दूर रह कर अपने शुद्ध अन्त:करण से सद्विचारों को प्रसारित करते रहते हैं। और उन हृदयों में जो कि एक प्रकार से उनसे मिले हैं अथवा उसी प्रकार से कोमल हो चुके हैं, उनके वह विचार सुनाई देते हैं और उनका प्रभाव होता है। अर्विन्द आश्रम पर उपदेश की यही शैली थी। स्वामी जी वर्ष में दो बार दर्शन देते थे परन्तु भक्तों को गुप्त रूप से उपदेश मिलता था। यह भी कोई बड़ी बात नहीं है। थोड़ी साधना की आवश्यकता है, और हृदय स्थित प्रभु स्वयम् अन्दर बैठे बैठे मंत्रणा देते हैं। महात्मा गान्धी जी यह कहा करते थे कि जब मैं बड़ी उलझन में पड़ जाता हूँ और समस्या का हल नहीं मिलता तो गीता माता की गोद में जाता हूँ। वहाँ से उस का बड़ा सुन्दर उत्तर मिलता है। संत जिसे अपने पास बुलाना चाहते हैं उसे पत्र आदि कम लिखते हैं केवल उसकी याद कर लेते हैं और उसे पता लग जाता है।

इस प्रकार के आकर्षण का उदाहरण हमें रायबरेली निवासी श्रीमान् जयनारायण जी से सुनने में आया। उन्होंने जो कुछ बताया वह उन्हीं के शब्दों में उध्द्रत किया जाता है।

आज से दो साल पीछे की बात है कि होली के पश्चात् चैत्र में मैं किसी कार्यवश कानपुर गया था। वहाँ मेरी बहिन का निवास

स्थान था। कोई विशेष बात नहीं थी। मैं जाया ही करता था परन्तु इस बार न जाने क्या दुर्भाग्य था कि मैं जिस कार्य के लिये घर से निकलता उसमें ही असफलता सामने आती। और यदि घर में रहता तो निद्रा का प्रकोप बड़ी तीव्र गति से चलता। मैं इसे सोच न पाता कि ऐसा क्यों है। एक दिन मध्याह्न का समय था जब की मैं किसी विशेष कार्यवश बाज़ार में चला जा रहा था कि अचानक कन्धे पर किसी के स्पर्श से चौंक पड़ा पीछे घूमकर देखा, एक पुराने सत्सङ्गी थे। जिनका नाम था श्री नारायण प्रसाद। यह बाँदे में रहते हैं।

"कहिये?" मैं ने पूछा—

"क्या आप को स्वामी जी का कुछ हाल तो नहीं मालूम?"

"नहीं भाई जयनारायण जी। मुझे अधिक नहीं मालुम। मैंने सुना है कि इन दिनों उनका स्वास्थ ठीक नहीं है। शहडोल, सोहागपुर में हैं।"

बस इतना सुनना था कि मैं किस कार्य से बाजार आया था वह भूल गया। उसी समय से आकर्षण प्रारम्भ हुआ। मैं यह समझ न सका कि मैं किधर और क्यों खिंच रहा हूँ। अति शीघ्रता से घर पहुँचा। बहुत स्वल्प मात्रा में आवश्यक वस्तुओं को लेकर सोहागपुर को लक्ष करके स्टेशन पर पहुँच कर रेल में बैठ गया। निद्रा ने फिर भी साथ न छोड़ा और मैं इतना अचेत हुआ कि गंतव्य स्थान से बहुत दूर निकल गया। यात्रियों से पूछने पर ज्ञात हुआ कि मैं बहुत आगे आ गया हूँ। कोई अन्य उपाय न था पछताने से भी क्या लाभ। मैं वहाँ उतर पड़ा और बड़ी कठिनाई से पीछे लौटा। सोहागपुर, शहडोल पहुँच कर स्वामी जी की बड़ी खोज की। कई घन्टों तक तो सारा प्रयास निष्फल रहा परन्तु जब वह स्वयम् किसी के अपने पास बुला रहे हों तो इस प्रकार की अड़चनें केवल साधन में दृढ़ता की परीक्षा के निमित्त होती हैं और कुछ नहीं होता। साहसा मैंने एक

धर्मशाला के कार्यकर्ता से जो उसमें बने हुए मन्दिर का पुजारी था, पूछा—

"क्यों भाई क्या तुम स्वामी जी को जानते हो ?"

"कौन से स्वामी जी ?"

मैंने श्री स्वामी जी का पूरा परिचय दिया। उसने उत्तर दिया कि थोड़े ही दिन पहले एक उस प्रकार के पुरुष उस धर्मशाले में ठहरे थे। परन्तु वहाँ पर अब वह न थे। उसने यह भी कहा कि उनका स्वास्थ ठीक नहीं था। उसकी अनुमति के सहारे मैंने वहाँ के हस्पतालों में खोजना आरम्भ की। तो सरकारी हस्पताल में थोड़ा पता लगा कि हाँ उस हस्पताल में एक वयोवृद्ध श्वेत वस्त्रधारी अत्यंत भव्य मूर्ति भगवान् व्यास के प्रतीक उस हस्पताल में रुग्ण दशा में आए। फिर ? वहाँ के एक कर्मचारी ने कहा कि अमुक कमरे में होंगे। मैंने हस्पताल के कमरों में झाँका कुछ पता न लगा। एक और सज्जन से मैंने पूछा "क्या उन्होंने स्वामी जी को देखा था। उस समय मेरी दशा बड़ी विचित्र थी। खोज करते-करते अब शरीर बहुत थक गया था। चाहता था कि कहीं रुक कर विश्राम करूँ और फिर ढूँढूँ। परन्तु यह न जान मिला कि कौन खींच रहा है। उस व्यक्ति ने मेरे निकट आकर ध्यान से मुझे देख कर पूछा—

"आप कहाँ से आए हैं ?"

"रायबरेली से।"

"आप का अभिप्राय ?"

"केवल स्वामी जी की खोज।"

उसने कहा—

"मित्र ! हाँ जैसे चिन्ह तुम बताते हो उस प्रकार का एक व्यक्ति यहाँ पर था तो परन्तु अब वह चला गया। तुमने देर कर दी। वह कौन था ?

मेरा दिल टूट गया। उसको तो मैंने संक्षेप से यह कहकर कि

वे भारत के सुप्रसिद्ध संत सत्य स्वरूप पूज्यपाद महात्मा शाहन्शाह जी महाराज थे, टाल दिया। इतना सुनकर वह चौंक पड़ा और घबड़ा कर बोला अरे! महान अनर्थ हो गया। मुझे बड़ा विसमय हुआ कि यह क्या बात है? वह कुछ न बोला संकेत से एक कमरे की ओर मुझे जाने के लिये कहकर चला गया। मेरा हृदय बड़ी तीव्रगति से धड़क रहा था। बड़ी फुरती से उस कमरे की ओर पहुँचा। पट बन्द थे। अन्दर झाँक कर देखने से पता लगा कि महाराज जी अन्दर हैं एक आसन पर लेटे हैं। पास में चारपाई पर एक वस्त्र रखा है। नाना प्रकार के विचारों का संघर्ष चित्त में उठता और नष्ट होता। थोड़े से समय में ही अनेक प्रकार के कुविचारों ने मन के स्थैर्य को अत्यन्त विक्षिप्त कर दिया। मैंने किसी प्रकार से पट खोले और अन्दर जाकर विस्मित दशा में थोड़ी देर खड़ा रहा। सोचा कि यह समय विश्राम का तो है नहीं। इस समय तो स्वामी जी कभी भी नहीं लेटते थे। कदाचित अस्वस्थ होने के कारण इस समय निद्रा आ गई हो। उस हस्पताल में बहुत व्यक्ति नहीं थे जिनसे कुछ और पूछा जा सकता। मैंने सोचा चरणों में प्रणाम तो करलूँ। इस अभिप्राय से मैंने चरणों की ओर जाकर प्रणाम किया। चरणों का स्पर्श प्राप्त करते ही मैं चौंक पड़ा "हैं! यह चरण इतने शीतल और इतने कड़े? यह तो निर्जीव जान पड़ते हैं। मैंने तुरत मुख पर पड़े हुए कपड़े को धीरे से हटाया। बस मुखाकृति पर मालिन्य तथा निर्जीविता के चिन्ह स्पष्ट दीख रहे थे। मैं स्तब्ध रह गया। कुछ न समझा। हड़बड़ाहट में कभी हाथों को छूता कभी मस्तक पर स्पश करता। बात तुरन्त समझ में आ गई। हृदय फट गया। चेतना शक्ति जवाब देने लगी। बड़े ज़ोर से आह भरी! चीख़ मुँह से निकल गई और मैं रो पड़ा। उसके शब्द से दो एक व्यक्ति वहाँ आ गए। उन्होंने सब बातें बताईं। कुछ समय तो मैं रोता रहा। आज विश्व के रङ्गमंच पर सन्त रस भङ्ग हो गया। प्रकृति ने एक अमोल रत्न

महा मानव का महा प्रयाण



महायात्रा के प्रबन्ध में



शमसान की श्रोर



अचल निद्रा



कुश शय्या पर

अपने वक्षस्थल में छिपा लिया। भक्तों का भगवान आज उनसे विदा हो गया। न जाने कितनों का सर्वस्व लुट गया। मृत्यु को क्या पता कि आज उसने किस माता की गोद ख़ाली कर दी। अब क्या था। हाय मैं आया भी तो तब, जब समय निकल गया उन महान ऋषिराज से अन्तिम सन्देश भी न ले सका। अब जब समस्त भक्त परिवार यह घटना सुनेगा तो उस पर क्या बीतेगी ? मैं घुटनों के बल बैठ गया सिर हथेलियों पर रख लिया। मुँह नीचे की ओर छिपा लिया और फूट फूट कर रोने लगा। विचारधारा टूटी नहीं। उस प्रभू के कड़े विधान की करतूत पर झुँझलाहट जान पड़ती थी। इतनी महान् आत्मा जिसका इतना बड़ा परिवार आज उसके महा प्रयाण के समय वहाँ का एक भी व्यक्ति नहीं! यहाँ कोई अपना परिचित भी नहीं। माँ! आज गोपाल ने अपने कलेवर को यहीं छोड़ दिया और उस विराट स्वरूप में अपने को अदृश्य कर दिया। अब कौन प्यार करेगा ? सुन्दर उपदेश पूर्ण बचनामृत पान करने का अवसर सदैव के लिये जाता रहा।

हस्पताल में चारों ओर सन्नाटा था। धीरे धीरे समय बीत रहा था सूर्यदेव सिर पर चढ़े आ रहे थे। अन्तस्थल से प्रेरणा मिली "वत्स—

सोचो तो कैसे कैसे ज़माने गुज़र गये।
जिससे कि तू हैरान है यह भी न रहेगा॥
आये हैं चले जाएँगे, कुछ देर के मेहमान।
क्या देखता नादान है, यह भी न रहेगा॥

तुम बड़े भाग्यशाली हो। सोचो! तुम ही क्यों इधर खींचे गए। हमारे इस संस्कार का अवसर तुमको मिला। शोक मत करो। जो कुछ भी तुमसे अब तक कहा गया था उसे विचारो और दृढ़ता प्राप्त करो। तब मैं एक देशीय था अब व्याप्त हूँ। सब स्थानों से मैं

अपनी मूकवाणी से उपदेश दूँगा। और यदि तुम ध्यान से सुनोगे तो पृथवी दुःख में अचल स्थिर रहने का, सरिता निःसङ्गता का, आकाश व्यापकत्व का इसी प्रकार पर्वत, वृक्ष, संसार की यावत् वस्तुएँ अब तुम्हें मेरा उपदेश सुनाएँगी अतः घबड़ाओ मत।"

मेरा चित्त कुछ हलका हो गया। मैं उठा और सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिये। हस्पताल के कर्मचारियों से शव किस प्रकार से प्राप्त हो सकेगा। यहाँ पर कोई परिचय भी नहीं है। धन और जन दोनों का अभाव है। हस्पताल और वह भी सरकारी! इधर उधर दौड़ने लगा। परन्तु सब निष्फल। निराशा के आधिक्य से चित्त बैठने लगा। अभी कुछ ही घण्टों के पश्चात सूर्य देव नीचे उतरने लगेंगे फिर क्या होगा?

निराश होकर मैं हस्पताल के बाहर बरामदे में जहाँ पुलिस विभाग के कर्मचारियों के बैठने की कुर्सियाँ पड़ी थीं, नीचे भूमि पर सिर झुकाकर बैठ गया। मन में सोचने लगा कि सुना करता था कि आपत्ति में भगवान् ही विपत्ति काटते हैं। दीनों की दीनता पर तरस खाते हैं। क्या उस समय मेरी वैसी दशा नहीं थी? देखें क्या सहायता मिलती है। बस उसकी प्रतीक्षा में बैठा रहा। उस समय महारानी द्रोपदी का चरित्र आँखों के आगे घूमा। मैंने कहा कि जब उसकी लाज बचाने के लिये वह प्रभू उसके वस्त्रों से लिपट गए थे और इतने लिपटे थे कि दस सहस्त्र हाथियों का बल घटा और दस गज़ चीर न घटा तो वह अवश्य मेरी सहायता करेंगे। मैं नहीं कह सकता कि मैं उस मुद्रा में कितनी देर बैठा रहा। परन्तु अचानक मेरी यह वृत्ति विक्षिप्त हुई। सड़क पर एक दरोग़ा साहेब मोटर से उतरे। उनके साथ कुछ और कर्मचारी भी थे। उनके आते ही हस्पताल में एक प्रकार की स्फूर्ति हो गई। उन्होंने मेज़ पर अपना हैट रख दिया और उस पर रक्खी हुई एक फ़ाइल को देखने लगे। उसमें सब आवश्यक

पत्र लगे थे और एक पत्र अन्य पत्रों से थोड़ा आगे निकला था उस पर छपा था—

"शाहन्शाही सर्व हितकारी संघ राजपुर देहरा दून।"

उन्होंने उस पत्र को घसीट लिया और पढ़ा। उसपर लिखा था—

'कल रात्रि में शाहन्शाह नाम के एक व्यक्ति की मृत्यु हस्पताल में हो गई।"

इसको पढ़ कर उनकी मुखाकृति आश्चर्य चकित हो गई। मैंने उनसे पूछा—

"क्या आप स्वामी जी को जानते हैं?"

"और आप?" उन्होंने पूछा—

मेरा कंठ रुँध गया। भर्राये हुए स्वर में मैंने कहा—

"मेरे तो सर्वस्व हैं।"

इसके पश्चात उन्होंने मुझसे संघ तथा अन्य कर्मचारियों के विषय में पूँछ ताछ की और जब उन्हें यह स्पष्ट हो गया कि मेरे वचनों में सत्यता थी, तब उन्होंने अपने हृदय की बात कही। उनके मधुर सान्त्वना पूर्ण शब्दों से मुझे बड़ा ढारस मिला। उसी समय मुझे वह संकेत पुन: स्मरण हो आया।

"जिससे कि तू हैरान है, यह भी न रहेगा।"

तुरन्त हम दोनों अन्त्येष्टि क्रिया के प्रबन्ध में लगे। सन्तों की प्रत्येक बात में रहस्य होता है। इसका प्राकट्य जब समय आता है तब होता है। काष्ट भार वाहन जो काष्ट ले गया था निर्दिष्ट स्थान पर न पहुँच कर जहाँ उसे आंतरिक प्रेरणा मिली वहां चला गया। अब जान पड़ा कि उस स्थान के लिये ही क्यों प्रेरणा मिली थी। उन महा प्रभू की महायात्रा बड़ी गम्भीर थी। मानव तो क्या वृक्ष भी शान्त थे। पक्षी सामने आते और शान्तीपूर्वक एक ओर को हो जाते। अरे ओ दुर्दैव! तेरे ही कारण यह दिन देखना पड़ता है। वसुन्धरा! आज तेरे तल पर भारत का आदर्श सन्त चिर समाधि लेगा।

तेरा वह खण्ड जहां इन पूज्यचरण के फूल गिरेंगे पवित्र तीर्थ बन जाएगा । तेरे इस स्थल पर न जाने कितने बड़े बड़े व्यक्ति जीवन सन्देश लेने आएँगें और यह महान विभूति अपनी मूक भाषा में उनका पथ प्रदर्शन करेगी ।

हम लोग कन्धों पर शव को लिये जा रहे थे परन्तु महान् आश्चर्य इस बात का था कि कन्धों पर तनिक भी बोझ नहीं जान पड़ता था ।

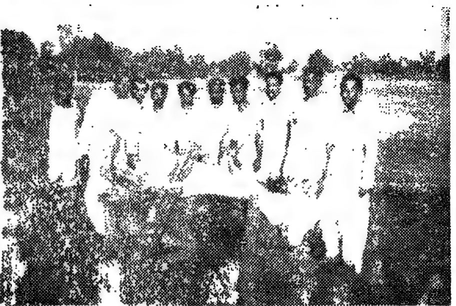
मस्तों की बातें भी मस्ती की होती हैं स्वामी जी के जीवन में जितनी मस्ती थी उनके अन्तिम समय में तथा अँत्येष्ठी में भी उतनी ही मस्ती रही । चिता में अग्नि का प्रवेश होते तो देखा गया परन्तु अग्नि देव ने कितनी शीघ्रता से उनके शव को अपने गर्भ में ले लिया इसका पता भी ठीक ठीक न चल पाया ।

एक चिता तो शान्त हुई परन्तु हाय ! अब न जाने कितने व्यथित हृदयों में विरहाग्नि जलेगी इसका अनुमान करना कठिन था । ओह ! मैंने सोचा जिस समय यह समाचार लोग पत्रों में पढ़ेंगे क्या होगा ? परन्तु विधना का विधान ! तीसरे दिन चिता शान्त हो गई थी । एक कलश में पुष्प एकत्रित कर लिये गए । मैं उन्हें लेकर वहाँ से चल पड़ा । प्रयाग में त्रिवेणी की उज्ज्वल धारा में थोड़े से पुष्प अर्पण किये गये । दूसरे दिन मैं पुष्पों सहित लखनऊ आया । स्वामी जी के प्रेमियों तथा भक्तों का यह एक प्रमुख स्थान है । भावुक स्वयम् अनुमान कर सकते हैं कि हृदयों पर कैसा बज्राघात हुआ । जिनके विषय में यह भी सुना नहीं गया था कि रुग्ण हैं आज अनायास यह परस्थिति प्राप्त हुई । सारे समुदाय पर शोक का साम्राज्य छा गया । श्री १०८ स्वामी त्यागानन्द जी की नेतृत्व में भक्तों ने अस्थि कलश का स्टेशन पर स्वागत किया । जय घोष की गगन भेदी ध्वनि तथा पुष्प वर्षा के मध्य सब लोग गोमती तट स्थिति आश्रम पर गये ।

महा मानव का महा प्रयाण



शमसान की ओर (दूसरा दृश्य)



चिता रोहण



चिता पर



ज्वाला की लपटों में

वहाँ से पुन: उसी आदर सत्कार के साथ वह कलश राजपुर शाहन्शाही धाम के लिये विदा किया गया। कुछ पुष्प गोमती माता की गोद में भी रखे गए। शाहन्शाही धाम में एक समाधि में उस कलश को स्थापित कर दिया गया।

अब शहन्शाह जाते हैं महलों में ऐ दरबारियों।
ख़ास है दरबार वाँ छुट्टी है बस आम को॥

आज वह भव्य मूर्ति अपने उस साकार कलेवर में हम लोगों के बीच में नहीं है परन्तु उसकी व्यापकता इतनी बढ़ गई है कि कहना पड़ता है कि--

दूर कहूँ तो दूर है, पास कहूँ तो पास।
साहेब ऐसा रम रहा, ज्यों फूलों में बास॥

अब हम अपने कर्मों को स्वामी जी से किसी प्रकार से भी नहीं छिपा सकते। भक्तों का अपना अनुभव है कि पूज्य स्वामी जी के जीवन सन्देश उन्हें मिलते रहते हैं और महान विकट परस्थितियों में भी उनका स्मरण आते ही कोई न कोई सरल मार्ग उनसे छुटकारे का सूझ जाता है।

लखनऊ के भक्तों ने श्री १०८ स्वामी त्यागानन्द जी के स्थान पर १७ वें दिन पूज्य स्वामी जी की स्मृति में बारह घण्टे अखण्ड श्री चौरासी छेदन का पाठ किया। तत्पश्चात् श्री चौरासी छेदन की चौपाइयों में

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसामाधिना॥
(गी० ४।२४)

मन्त्र के सम्पुट से विशाल यज्ञ रचा गया उस समारोह की समाप्ति पर ग़रीबों, अनाथों को भोजन वस्त्र आदि दिए गए।

इसी प्रकार का कार्य-क्रम राजपुर, देहरादून तथा शहडोल में भी भक्तों ने रखा।

सन्त और भगवन्त तो सदैव आप्त काम होते हैं उन्हें किसी प्रकार की पूजा, अर्चन, बन्दन आदि से हम क्षुद्र जीव तृप्त कर ही किस प्रकार सकते हैं ? भगवान् सच पूछिये तो इसके भूखे भी नहीं हैं। जिस प्रकार से शब्द आकाश से प्रतिध्वनित होकर हमें ही सुनाई देता है। यदि हमने अच्छे शब्द उच्चारण किये हैं तो प्रतिध्वनि में भी सुन्दर शब्द सुनाई देंगे उसी प्रकार हम जो कुछ शुभ कार्य करेंगे वह हमको ही मिलेगा। भगवद् अर्पण कर देने पर विशेष लाभ यह है कि वह अनन्त को समर्पित होने के कारण अनन्त होकर वापस लौटता है। ऐसा समझकर इन सन्तों के जीवन हमारे हित में उस शान्ति मन्दिर के लिये सोपान हैं जहाँ पहुंच कर जीव अमरत्व का आस्वादन करता है। आज राजपुर से जहां पर से श्री स्वामी जी अपनी ज्ञान, वैराग्य, तथा आनन्द की लहरें प्रसारित करते रहते थे वहाँ उनकी समाधि है। अब वह स्थान एक पुनीत तीर्थ है जो स्वामी जी के भावुक भक्तों की अपनी निधि है। वहाँ बैठकर कितना विश्राम मिलता है वह लेखनी की सीमा से बहुत परे है।

सब प्रकार उन्ह सेवा कीन्हीं।
अभय बांह दीनन कहँ दीन्हीं ॥
अमर काव्य चौरासी छेदन।
पाप ताप सन्ताप विभेदन ॥
जन हित कारण विचरण कीन्हा।
सुखी सकल दासन कहँ कीन्हा ॥
जहँ जहँ गए शहन्शाह स्वामी।
तहँ तहँ सब चरणन रतिमानी ॥
अन्त समय शहडोल सिधारे।
सुखी भए सब भेंटन हारे ॥
भजन कीर्तन नित हीं गावहिं)
आवहिं भक्त सुनहिं सुख पावहिं ॥

यहि विधि कछुक काल चलि गयऊ ।
प्रभु जब चलहिं सो अवसर भयऊ ।।
पुण्य भूमि शहडोल की,
कीरति लही अपार ।
तहां शहन्शाह सन्त की,
लागि समाधि अपार ।।
तहां शहन्शाह सन्त की,
लागि समाधि अपार ।।
मिटहि न कीरति ताहि की,
जो जुग जाहिं अनन्त ।।
रंक शहन्शाह ने कियो,
अपनो पूरण पन्थ ।।
संत सुगम महिमा सुगम,
सुगम पंथ तिन्ह केर ।।
ताही की तू ले शरण,
मिटै जगत को फेर ।।
द्वै सहस्त्र दस वर्ष युत,
प्रथम मास बैसाख ।
कृष्ण पक्ष परवा तिथि,
भयो रंक तनु राख ।।

शाहन्शाही साहित्य

बचन शहन्शाह के अमर,
सकल कला गुण खान ।
भक्ति ज्ञान वैराग्य निधि,
ऐसो संत महान ।।
इनका जो सेवन करै,
तरै जलधि गम्भीर ।।
भक्ति बढ़ै, मुक्ती मिलै,
होय न फिर भवभीर ।।
याको मैं नहिं कहि सकौं,
या में तत्व बखान
कृपा शहन्शाह की भई,
कछु कीन्ह्यो गुणगान

महापुरुषों का साहित्य वह वस्तु है जो केवल विद्वत्ता ही नहीं वरन उस के साधन, साधक अवस्था तथा सिद्धि का परिचय कराता है। उसके साथ साथ देश की विभिन्न परस्थितियां, उस समय में प्रवेश करने वाली देश की समस्याएँ उनका सुधार आदि आदि बातों पर भी प्रकाश पड़ता है।

यह कोई नवीन बात नहीं है सन्तों ने चिर काल से इस प्रकार की सेवा का भार अपने ऊपर लिया है। संसार में विश्व कल्याण, विश्व सेवा आदि २ महान प्रश्नों में यदि कोई उतरा है तो वह केवल दो ही शक्तियां हैं या तो संत, या भगवन्त।

हेतु रहित जगजुग उपकारी,
तुम तुम्हार सेवक असुरारी ।।

देश की व्यवस्था या तो वह आदि शक्ति स्वयम् अवतरित होकर ठीक करती है या फिर अपने प्रतिनिधि सन्तों को भेजती है। ऐसे संत सारे विश्व में होते आए हैं। और भारत भूमि तो इन अवतारों तथा सन्तों के अवतारों के लिए विख्यात है ही। सन्तों का कहना है कि विश्व के भूगोलिक चित्र में भारतवर्ष हृदय के स्थान पर है। अतः जैसे मनुष्य के हृदय ठीक होने से शरीर ठीक रहता है उसी प्रकार कदाचित् भगवान ने भारत भूमि की अधिक देख रेख की हो।

गोपाल जी के जीवन में साहित्य ने कब प्रवेश किया इसका अनुमान करना कुछ कठिन जान पड़ता है। सन्तों के जीवन में यह भी एक अद्भुत बात है कि वह साधारण व्यक्तित्व के स्तर से इतना ऊँचे उठ जाते हैं कि वह जो कुछ बोलते हैं वह सब काव्य मय होता है। ऐसी बात हमें सूर, तुलसी, कबीर, मीरा श्री चैतन्य महाप्रभु जी आदि के साहित्य में भी मिलती है। भगवत् प्रेम, आत्मानुभूति की उन्मत्ता में देश की दशा पर अथवा अपने मानसिक स्तर के उत्थान से सम्बन्धित भावनाओं से प्रेरित होकर उन्होंने जो कुछ भी उद्गार प्रगट किये हम देखते हैं कि वह सब तालस्वर सहित हैं। उनके भजनों में लोगों ने पीछे से तालस्वर आरोपित किये।

ऐसा सन्तों का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य में प्रायः छ कलाएँ होती हैं। जब वह सत् कर्म करता है तो उसमें इन कलाओं की वृद्धिहोती है। और आठ कलाओं पर समाज उसे सन्त की उपाधि दे देता है। अतः उसकी साधना भगवत्गुणानुवाद तथा सात्विक कर्मों से आरम्भ होती है। इन कर्मों से उसके संचित कर्म कटते हैं। प्रारब्ध का भोग होता है। धीरे धीरे जब ज्ञान भानु उदय होता है तब जीवन में आत्मानुभूति के कारण मस्ती आ जाती है।

शाहन्शाही साहित्य को यदि हम अध्ययन करें तो इन्हीं अङ्गों से भरपूर पाँएँगे भगवत् प्रार्थना, के नाते जो शब्द लिखे गए उनकी उपादेयता, तथा उपयोगिता का जाज्वल्य प्रमाण यही है कि उस अमर काव्य "चौरासी छेदन" के अनेक संस्करण समाज में पहुँच चुके हैं। वह काव्य आलोंचना की दृष्टि से परे है। विश्व के किसी मत का मतानुयायी अपने इष्ट की स्थूल अथवा मानसिक कल्पना कर के अपने हृदय की वेदना उन चौपाइयों द्वारा उद्धृत कर सकता है। वह एक ऐसा पाठ है कि एक ही स्थान पर एक ही समय विभिन्न सम्प्रदाय के व्यक्तियों द्वारा पढ़ा जा सकता है। उसके पाठ से क्या आनन्द आता है? इस प्रश्न का उत्तर भावना के स्तर की वस्तु है। गान विद्या के पण्डितों का कहना है कि वह काव्य लगभग बत्तीस ध्वनियों में बाँधा जा सकता है। उस काव्य का नाम चौरासी छेदन क्यों पड़ा इसका उत्तर कबि ने स्वयम् उस पुस्तक की भूमिका में दिया है। सर्व प्रथम उसका हिन्दी संस्करण छापा गया था परन्तु जनता ने उसे इतना अपनाया कि उसे उर्दू पंजाबी, भाषाओं में भी छापा गया। समय बीतने पर उन चौपाइयों को अंगरेज़ी भाषा में भी लिपि वद्ध किया गया। बङ्गाली, सिन्धी, गुरुमुखी, तरमिल भाषा में भी छापा गया भक्तों की अनुभूति में चौपाइयों मंत्र प्रमाणित की गई हैं। उनके विषय में आशीर्वादात्मक रूप से यह कहा जा सकता है कि

जे सकाम नर सुनहिं, जे गावहिं।
सुख सम्पति नाना विधि पावहिं॥

पाठकों को संकेतिक भाव से दो एक स्थल दिग्दर्शन कराए जाते हैं।

तुम्हारो भेद न जान कोई, जो जानै सो तुम ही होई
[चौरासी छेदन]

सो जानहि जाहि देहु जनाई । जानत तुमहिं, तुमहिं होई जाई ।।
[राम चरितमानस]

तुम हो आदि मध्य और अन्ता । तुम ही हो सब के भगवन्ता ।।
[चौरासी छेदन]

अनादि मध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहु शशि सूर्य नेत्रम् ।
[गीता ११।१६]

कर्म क्षेत्र में उतरे हुए साधक के लिये संसार की ओर से सावधान करते हुए आप संकेत करते हैं कि "ओ संसार पथ के पथिक संसार से सावधान रहना।"

यह दुनिया कर्म की भूमी है,
यां कर ले जो कुछ करना है ।
जब जाऊगा छोड़ के तू इसको,
फिर उसी किये को भरना है ।

कर्म की व्याख्या बड़ी कठिन है । भगवान स्वयम् कहते हैं ।

कर्मणोह्यपि वौद्धव्यं, बोद्धव्यं च विकर्मण :
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गति :
[४।१७]

अर्थात् कर्म के विषय में विशेष सावधानी की आवश्यकता है। सर्व साधारण के लिये परस्थिति पर निरणय करना सहसा कठिन हो जाता है । उन सब के लिये यह सिद्धान्त है कि—

"जब जायगा छोड़ के तू इसको, फिर उसी किये को भरना है ।"

यह चेतावनी मानव को निम्न स्तर से ऊपर उठा सकेगी ।

जीवन सुख दु:खों का संघर्ष है । इसमें व्यथित प्राणी प्राय: इनका कारण व्यक्ति वस्तु तथा काल पर रखता है । परन्तु ऐसा है नहीं,

सुख दु:ख कर्मों वश होवें, को काहू को देत ।
रे मन चेत चेत अबचेत ।।

इस प्रकार से बड़ी शान्ति मिलती है।

एक कहावत है कि बन्दूक तलवार तो दूसरों को मारने के लिये चाहिये। अपने लिये तो सूई पर्याप्त है। अतः अरे मानव दूसरों को सुधारने की चेष्टा मत कर।

'ऐ शाहन्शाह इस दुनिया में समझना और को मुशकिल है।
अतः चुप हो रह जो तू समझा है, बकवाद न कर २॥"

'रे मन अपनो भवन संवार,
तो को क्या औरन संग लागे। सब अपने मुख्तार·······।
और हे मन यह भी तू भली प्रकार समझ ले।
संगी साथी दूर रहेंगे, खाएगा जब मार·····।

सन्तों महात्माओं ने एक ओर तो मन को सुधारने का उपाय किया है कि वह साधन करता रहे और दूसरी ओर यह भी बताया कि मुख्यतः उसे क्या करना चाहिये। इस विषय में सब एक स्वर से कहते हैं कि सब साधनों में सर्व श्रेष्ठ साधन है राम नाम जप। संसार में चार प्रकार के भक्त होते हैं।

चतुर्विधा भजन्तेमाँ जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चभरतर्षभ॥

[गीता ७।१६]

रामभक्ति जग चारि प्रकारा, सुकृती चारिह, अनघ उदारा॥
चहुँ चतुरन्ह का नाम अधारा, ज्ञानी प्रभुहि विशेष पियारा॥

[मानस]

आजकल की भाषा में इन भक्तों की श्रेणियां इस प्रकार कही जाती हैं—

फ़सली, दख़ली, नक़ली तथा असली। आज भी देखा जाता है कि राम नाम इन चारों को सहारा देता हुआ इनका भरण-पोषण करता है। परन्तु इनमें भी जो अनन्य भावों से उनको चिन्तन, भजन करता है उसके लिए यह आश्वासन है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां येजनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम ॥
[गीता ९।२२]

शान्शाही साहित्य में इस प्रकार का आश्वासन भरा पड़ा है। वहाँ भी इस प्रकार की सांत्वना भली प्रकार से मिलती है—

(१)

भजो रे मन रामनाम सुखदाई ।
बिनु हरि भजे मुक्ति नहीं होई ॥
लाखों करो उपाई—

(२)

तू हर हर जप नित मोरे मना,
तू छोड़ वृथा बक बक करना ।

(३)

मन तू हरि चरनन से लागि रहो ।
और न काहू से कुछ कह सुन ।
राम से मन की बात कहो ॥
जो तुम चाहो हरि से मिलना ।
सुख और दुःख सहो ॥

भीरु पुरुष का फटकारते हुए आप कहते हैं—

डरते किस वास्ते हो, राम भजो, राम भजो ।
सोच और फ़िक्र तजो, राम भजो राम भजो ॥
सुख की और दुःख की सभी, राम से तुम अपनेकहो ।
और क्या जाने दवा, राम भजो, राम भजो ॥
काम दुनिया के करो, डोरि मगर राम से हो,
बिगड़ी बन जायगी सब, राम भजो राम भजो,
कर ते कर्म करो विधि नाना ।
मन राखहु जहँ कृपा निधाना ॥

कर्म करते हुए एक समय आता है जब मानव यह समझने लगता है कि कौन से कर्म ऐसे हैं जो बन्धन युक्त करते हैं और कौन से बन्धन मुक्त करते हैं। (यह दूसरी बात है कि वह समझता हुआ भी आचरित न कर सके)। उसी समय उनके लिए उपासना का क्षेत्र खुलता है। उपासना का अर्थ ही है (उप + आसन) अर्थात् उस प्रभू के समीप आसीन होना। उपासना सम्बन्धी अनेकों संकेत हमें मिलते हैं। भगवान योगियों के लिए तो उपासना की विधि इस प्रकार देते हैं—

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मना।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्॥
[गीता ६।११ से १६ तक]

अथवा भक्ति मार्ग का अनुसरण करने वालों की विधि इस प्रकार बताते हैं। वास्तव में इस स्थान पर भक्ति का अत्यंत उत्कृष्ट रूप दिया गया है। वास्तविक शुद्ध उच्च कोटि का भक्त ऐसा ही होना चाहिए जैसा कि भगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करूण एव च।
निर्ममो निरहंकारः सम दुःख सुखःक्षमी॥
[गीता १२।१३ से २० तक]

इन मंत्रों में योगी, ज्ञानी तथा भक्त सबों का ऐक्य भाव है। यहाँ भी इसी अभिप्राय से सन्बन्धित पदों की ओर संकेत किया जाता है—

(१)

अगर है वस्ल का शायक़ तो हरदम लौ लगाता जा।
पये दीदारे हक़ दिल को तू दुनिया से चुराता जा॥
न मिल दुनियाँ से तू हरगिज़ अगर मिलने की ख़्वाहिश है।
ख़ुदी से हाथ मल मल कर ख़ुदाई से मिलाता जा॥

(२)

प्राणी मन के मैल को धो।
सत का साबुन जग का पाटा, मति के नीर डुबो ।
हरि है शीतल जग है ताता, ताता सीर समो ।।
मन है सच्ची वसुधा तेरी, इसको राख या खो ।

उपासना में चेतावनी तथा प्रार्थना दो विशेष अङ्ग हैं। चेतावनी से मन की तरङ्गें मरती है। उसके हथकण्डे ढाले पड़ते हैं। भाग दौड़ बन्द हो जाती है चेतावनियों में प्राय: सदमार्ग पर न चलने वालों की दशा का उल्लेख होता है कि किस प्रकार से उन्हें संसार में शान्ति नहीं मिली। उस सुख की खोज में जिस के निमित्त उन्होंने शरीर पाया था, उन्होंने केवल सुखाभास के भ्रमात्मक मार्ग को अपनाया और केवल व्यक्ति तथा वस्तु द्वाराप्रणीत सुख में ही सन्तोष माना, उन सब को काल ने यहाँ से अदृष्ट ही नहीं किया वरन् उनकी परम्परा भी नष्ट कर दी। हमारे देश के सन्तों के काव्य में चेतावनी अपना प्रमुख स्थान रखती हैं। इन सन्तों ने केवल अपने मन को सचेत करने के लिये उसे चेतावनी देते हुए हम सब को चेताया। अब समय यह आ गया है जब कोई किसी की सीख मानना नहीं चाहता। हाँ सीख देना उसे अच्छा लगता है। इस प्रकार की चेतावनियाँ कविता के सभी अङ्गों की पूर्ति करती हैं। महात्मा कबीर दास जी तो बिलकुल साफ़ साफ़ कह देते हैं।

माला चला जान दे सटकी।
तीरथ गए जमा सब खोई, गतिमति अन्ते अटकी।
चुँगुल चारि जतन में मारत, थरिया मां हड्डी खटकी।।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, बाँह पकरि जम पटकी।।

अथवा

हाँड़ जरें ज्यों लाकड़ी, केस जरैं ज्यों घास।
सब जग जलता देखकर, भया कबीर उदास।।

कबीर हँसना बन्दकर रोने की कर चौप,
स्वांसा हीरा लाल हैं, गिन गिन गुरू को सौंप ॥

सूर साहित्य में भी चेतावनियों की कमी नहीं है—

रे मन मूरख जनम गँवाय ।
करि अभिमान विषय रस राँच्यो, श्याम शरण नहिं आयो ।
यह संसार फूल सेमर को, देखि रूप ललचायो ।
चाखन बैठ्यो रूई गई उड़ि, हाथ कछू न आयो ।
कहा भयो जो अब तू चेत्यो, पहिले कुछ न कमायो ।
'सूरदास' भगवन्त भजन बिनु, सिर धुनि धुनि पछितायो ।

तुलसी बाबा के शब्दों देखिये चेतावनी का ढंग—

मन पछितै हैं अवसर बीते ।
सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बली ते ।
हम हम करि धन धाम संवारयो, अन्त चले उठि रीते ।
अब नाथहिं अनुराग जागु जड़, त्यागि दुराशा जीते ।
बुझै कि काम अगिन तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घीते ।

अथवा

तांबे सो पीठ मनहुँ तन पायो ।
नीच मीच जानत न शीश पर, ईश निपट बिसरायो ।
जिन्ह भूपति जग जीति बान्धि जम, अपनी बांह बसायो ।
तेऊ काल कलेऊ कीन्ह्यो, तू गिनती कब आयो ।

शाहन्शाही साहित्य ऐसे विचारों में पीछे नहीं है । महात्मा मन को सावधान करते हुए कहते हैं ।

(१)

मन चेत चेत अब चेत,
तेरे चेते सब जग चेते, काहे भयो अचेत ।

(२)

मन अपनो भवन संवार ।
औरन को तू क्या समझावे, अपनो आप संभार ।
रंक 'शहन्शाह' जो तू समझे, तो है मौज बहार ।

(३)

हे नर मन की हुन्डी खोल ।
पल छिन में उठ जायगा जग से, काल का बाजे ढोल ।
जग की प्रीत नहीं है सांची, यह है ढोल की पोल ।

(४)

जागो रे मनवा ।
क्या सोवत अजगरवत है तू, बधिक गह्यो धनुवाँ ।
पाले प्रभू को करके निछावर, तन मन अरु, धनुवाँ ।
'शाहन्शाह' जागे जो सवेरे, फिर जांए दिनवां ।

उपासना का दूसरा अङ्ग है ईश्वर की प्रार्थना । यह एक गम्भीर विषय है । मनुष्य ईश्वर अंश जीव अविनाशी के नाते ईश्वरी गुण अपने में रखता है । यह प्रश्न हो सकता है कि फिर वह ईश्वरी कृत्य क्यों नहीं कर सकता है । ऐसे प्रश्न का उत्तर कठिन नहीं है । मनुष्य ने अपनी शक्ति को नानात्व के संकल्पों में क्षीण कर रखा है । उस ईश्वर का सब से बड़ा गुण यह है कि वह सुखरूप है । अत: ब्रह्मा की सृष्टि में कोई भी ऐसा न मिलेगा जो उस सुख के लिये प्रयत्नशील न हो । उस सुख प्राप्ति के मार्ग, तथा साधन भिन्न २ हैं । विचार करने पर हमें इन सबका उद्गम केवल दो ही स्थलों पर मिलेगा । सुख के लिये या तो हम व्यक्ति की उपासना करते हैं । या वस्तु की उपासना करते हैं । इनके असन्तुष्ट होने पर

प्रसन्न करने का साधन करते हैं। अत: उनकी अपूर्ति में कष्ट का अनुभव करते हुए जो अभिलाषा करते हैं वह है प्रार्थना। प्रार्थना के लिये वाणी का प्रयोग आवश्यक नहीं है। हाँ आवश्यकता पड़ने पर वाणी को उसका साधन बनाया जा सकता है। अत: प्रार्थना का सब से उच्च स्तर वह है जहाँ हृदय केवल किसी वस्तु के अभाव का अनुभव करके अपने नियन्ता की ओर देखले। इस नाते से गजेन्द्र की प्रार्थना अथवा द्रौपदी की पुकार का एक विलक्षण भाव था। उसके पश्चात् मन, वचन, कर्म से प्रार्थना का नम्बर आता है। इसमें भी विशेषत: वाणी द्वारा प्रार्थना का एक प्रमुख स्तर है। वाणी भी चार-प्रकार की होती है परा, पश्यंती, मध्यमा तथा वैखरी। उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ हैं। ऐसी प्रार्थना जिस में शब्द उच्चारित होते हैं अत्यन्त लाभदायक है। अपने को शान्ति तो मिलती ही है, दूसरों को भी हर्ष होता है। उन्हें भी ईश्वर प्रदत्त प्रेरणा मिलती है, मन में अत्यन्त कोमलता आती है। और जहाँ मन पिघला कि बस पाप ताप धुल गए और उसे शान्ति मिली। शान्ति मिलते ही मन की भाग दौड़ बन्द हो जाती है।

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौड़।
दौड़ मिटी मन थिर भया, वस्तु ठौर की ठौर॥

ऐसी प्रार्थना जब आषवाणी में होती है तो उसका महत्व बढ़ जाता है। उसमें प्रासादात्मक स्फूर्ति बढ़ जाती है। मध्य कालीन सन्तों की प्रार्थनाएँ जीवन में विलक्षण प्रभाव रखती हैं—

मेरे प्रभु औगुन चित न धरो।
समदरशी है नाम तिहारो, वाकी विरद करो।
एक लोहा पूजा में राखत, एक घर बधिक परो।
सो पारस दुबिधा नहिं राखत, कंचन करत खरो।

एक नदिया एक नार कहावत, मैलो नीर भरो,
जब दोनों मिलि एकवरण भई, सुरसरि नाम परो,
एक माया एक ब्रह्म कहावत् 'सूर' श्याम झगरो—
अबकी बेर उबारो प्रभु जी, नहिं प्रण जात टरो।

तुलसी की प्रार्थना देखिये—

जय जय सुर नायक, जन सुखदायक, प्रणत पाल भगवन्ता।
गो द्विज हितकारी जै असुरारी, सिंधु सुता प्रियकन्ता॥
[रामायण बा० का०]

अथवा—

कबहुँ सो कर सरोज रघुनायक,
धरिहौ नाथ शीश मेरे।
जेहि कर अभय किए जन आरत,
बारेक बिबस नाम टेरे।
जेहि कर कमल कठोर शम्भु धन,
भंजि जनक संशय भेटयो,
जेहि कर कमल कृपालु बन्धु ज्यों,
परम प्रीति केवट मेंटयो॥
जेहि कर कमल कृपालु गीध कहँ,
पिण्ड देइय निज धाम दिया।
जेहि कर बाल विदारि दास हित,
कपि कुल पति सुग्रीव कियो॥
आयो शरण सभीत विभीषण,
जेहि कर कमल तिलक कीन्हों।
जेहि कर गहि सर चाप असुर हति,
अभय दान देवन्ह दीन्हों।
शीतल सुभग छाँह जेहि करकी,
मेटत पाप ताप माया।

निसिबासरा सोई कर सरोज की,
चाहत 'तुलसीदास' छाया ॥

शाहन्शाही साहित्य की प्रार्थनाएँ उपरोक्त गुण रखती हुई नवीन शैली को भी अपनाए हैं। शब्दावली सरल होते हुए सार गर्भित है जिससे सर्वसाधारण को समझने में बड़ी सुगमता है। इतना होते हुए वह सब गान विद्या के पण्डितों को और भी भली प्रतीत होती हैं। उदाहरणार्थ देखिए—

(१)

कैसे तुम्हें हम पाएँ प्रभू जी।
भक्ति न जोग न तप नहिं संयम,
नाहिं भभूति रमाएँ, प्रभू जी, कैसे॥
जप तप पूजा पाठ न जानें,
मुँह कैसे दिखलाएँ, प्रभू जी, कैसे।

(२)

हे प्रभू हम पर दया अब कीजिये,
मनके सारे पापों को हर लीजिये
हों शहन्शाह रंक सब यकसाँ हमें,
ऐसी समता दान हम को कीजिये।

(३)

हे प्रभू जी मोहि तो है आसरा तिहारो।
तेरे बिना जगत बीच कौन है हमारो॥
धरणि धाम मानगेह झूठा है इन सब का नेह।
विपति जबहिं आन पड़े देत हौ सहारो—

प्रार्थना व्यक्तिगत भी होती है और सामूहिक भी होती है। इसका कारण हम यह समझ सकते हैं कि कुछ हमारी व्यक्तिगत अपत्तियाँ हैं और कुछ सामूहिक कठिनाइयाँ हैं। अपने स्वयम् काम विकार शान्त नहीं, मन में क्रोध लोभ, मोह अहंकार, मद आदि द्वन्द्व

मचाते रहते हैं जिसके कारण हमें द्वैत दर्शन होता है और समस्त दु:खों की मूल अविद्या अथवा मोह है यह तब तक हममें रहता है, जब तक हम विश्व में ईश्वर के अतिरिक्त माया के भी अस्तित्व को सत्य माने बैठे हैं। इनके निवारणार्थ ईश्वर प्रार्थना से बहुत लाभ होता है।

दूसरी आपत्तियाँ ऐसी हैं जिन के प्रभाव से हम समाज में रहने के कारण बच नहीं सकते। भूकम्प, महामारी, प्लेग, जाति भय, देश भय आदि भी हमें दुख देते रहते हैं। प्राय: लोग सामूहिक रूप से हवन, ब्राह्मण भोज आदि आदि कर्म करते हैं। परन्तु इन सबों से अति उत्तम सामूहिक प्रार्थना है। उसके लिये कोई विशेष रूप से निर्माण की हुई प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है। इन्हीं प्रार्थनाओं की भेंट हम उस परमात्मा के सामने कर सकते हैं। ऐसी बातों में हमारे देश में प्राय: एक समस्या बड़ी कठिन है जो हमारे सामने सामूहिक रूप से की जानेवाली प्रार्थनाओं में आ खड़ी होती है। देश में विभिन्न प्रकार के समुदाय, मतानुयायी तथा जाति भेद के कारण पृथक-पृथक इष्ट देवों की आराधना की गई है। उपासना के आकार प्रकार भी पृथक-पृथक हैं। यद्यपि व्यापक दृष्टि से इन सबों में कोई भेद नहीं है। क्योंकि सारे समुदायों सम्प्रदायों का लक्ष्य एक ही है सब पूर्णरूपेण सुख, अमृत्व, स्वतंत्र आदि आदि ईश्वरी गुण चाहते हैं। उनके साधन विधान अलग अलग हैं। फिर भी अन्तिम बात में सबका एक मत है। ऐसी दशा में प्रार्थना ऐसी होनी चाहिये जिस में सब सम्मिलित हो सकें। इस बात को ध्यान में रखते हुए शाहन्शाही साहित्य अत्यन्त उपयुक्त है। चौरासी छेदन (जैसा कि पहले कह आएँ हैं) स्पष्ट रूप से सर्वदा मत मतान्तरों के बखेड़ों से बहुत परे हैं। इस प्रकार भगवद्सन्मुख की गई प्रार्थनाएँ भी सर्व प्रकार के झगड़ों से मुक्त हैं।

कर्म, उपासन के फलस्वरूप तीसरी अवस्था ज्ञान की आती

है। यहाँ पर पहुँची हुई आत्माएँ जीवन मुक्त हो जाती हैं। इन्हीं को हम स्थित-प्रज्ञ भी कह सकते हैं। इनको यदि हम जानना चाहें तो उनके खाने पीने, उठने-बैठने तथा बोलने से नहीं जान सकते उनके लिये तो गीता हमें परख बताती है।

प्रजहातियदाकामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥

[गीता २।५५ से ६० तक]

यहाँ पर पहुँचा हुआ प्राणी मस्त रहता है। संसार की वस्तुओं में कमलवत् वर्तता है। वह आत्म को अनात्म से अलग करके आत्मा में ही रमण करता है। जिन सन्तों ने ज्ञानावस्था पर पहुँच कर वहाँ के रस का आस्वादन किया है, वे इसके पश्चात् फिर नीचे स्तर की वस्तुओं में वर्तते हुए रस नहीं लेते।

मेरा मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज़ को पंछी।
फिरि जहाज़ पर आवै ॥
कमल नयन को छांड़ि महातम।
आन देव को ध्यावै ॥
परम पियासो छांड़ि गङ्ग जल।
हठि नभ कूप खनावै ॥
जिन्ह मधुकर अम्बुज रस चाख्यो।
क्यों करील मन भावै ॥
'सूरदास' प्रभु काम धेनु तजि।
छेरी कौन दुहावै ॥

अथवा

रमा बिलास राम अनुरागी।
तजत बमन इव नर बड़ भागी ॥

यथा

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात ।
ज्यों नर डारत बमन करि, स्वान स्वाद सों खात ।।

[रहीम]

शाहन्शाही साहित्य में ज्ञान सम्बन्धी पद देखिए—

तेरे घट में अमृत खान ।
मक्का काशी भटकत डोलत, खोया सगरा ज्ञान ।
घट के अंदर भूल न ध्यायो, जहाँ ख़ुद हैं भगवान ।।

अथवा

रे मन कासों करत कुटिलाई ।
रोम रोम में राम रमा है,
घट घट रहा समाई ।
फिर कासों तू करत दुरावा,
यह मोहिं समझ न आई ।
जो है अन्दर वह ही बाहर,
भ्रम बिनु भीत न काई ।
भ्रम की भीत को दूर करे जो,
ब्रह्म तोहिं दरसाई ।

इसी ज्ञान की मस्ती में स्वामी राम कह उठते हैं—

यह सैर क्या है अजब अनोखा,
कि राम मुझ में, मैं राम में हूँ ।
बग़ैर सूरत अजब है जलवा,
कि राम मुझ में, मैं राम में हूँ ।।

जहाज़ दरिया में, और दरिया जहाज़ में,
भी तो देखिए आज ।

यह जिस्म किश्ती है. राम दरिया,
कि राम मुझ में, मैं राम में हूँ ।।

ठीक इसी प्रकार की मस्ती आप निम्न पदों में देखिए—

(१)

हल हो गया है आखिर जो था सवाल मेरा।
समझा था ग़ैर जिसको, वह था ख्याल मेरा ।।

(२)

साधो ऐसा राम हमारा,
न्यारा रह कर सब में शामिल,
शामिल रहकर न्यारा ---
'शाहन्शाह' जो उसको चीन्हें,
वह है गुरू हमारा -----

(३)

तन में ऐ जाँ तू छिपा था, मुझे मालूम न था।
मैं ही परदा सा बना था, मुझे मालूम न था ।।
अपने छिपने के लिए, कोई जगह पा न सका।
जिस जा ढूँढ़ा तू वहीं था, मुझे मालूम न था ।।

सन्तों ने उस आनन्द की प्राप्ति का एक और मार्ग भी बताया है वह मार्ग है मीरा का। श्री चैतन्य महाप्रभु का। कहने में भले ही सरल जान पड़े परन्तु है वह भी कठिन। प्रेम की साधना में कर्म, उपासना तथा ज्ञान होते सब ही हैं परंतु उनका सबका एकीकरण साथ साथ होता है। प्रेम के प्राङ्गण में हर्ष, शोक, मिलन-वियोग नहीं होता। वास्तव में प्रेमी यह जान भी नहीं पाता कि वह क्या कर रहा है। ब्रज की गोपिकाओं की याद आ जाती है। अथवा ब्रज के याज्ञिक पण्डितों की धर्म पत्नियाँ भी उस प्रेम की प्रतीक हैं कि उनके सामने जब नरक के साथ भगवत् प्रेम का प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होंने एक स्वर से कह दिया भले ही नरक मिल जाए परन्तु कृष्ण प्यारे का प्रेम नहीं

भुलाया जा सकता। कहने को हम जो चाहें कहा करें वास्तव में शब्दिक व्याख्या का कोई महत्व रह नहीं जाता। भगवत् स्वरूप श्री मीरा जी का समस्त जीवन श्री गिरधर गोपाल जी के रंग में रंगा था। यह बात जब तक विश्व का इतिहास जीवित रहेगा उसमें बराबर मिलती रहेगी। श्री भरत लाल जी इस मार्ग के आचार्य कहे जाते हैं। पूरे चौदह वर्ष भगवान राम के वियोग में नन्दिग्राम में बसकर शरीर को सुखा डाला। उनकी दशा का दिग्दर्शन कराते हुए कवि कहते हैं—

देह दिनहिं दिन दूबरि होई।
घट न तेज बल मुख छवि सोई॥
नित नव राम प्रेम पनु पीना।
बढ़त धरम दल मन न मलीना॥

प्रेम मार्ग की साधना की परीक्षा ही यह है कि मानव में धर्म को बल बढ़े। जो कर्म भी वह करे धर्म का आधार लेकर करे। और मन में मालिन्य न आने पाये। और उसके साथ में प्रेमास्पद के प्रति प्रेमी का प्रेम नित्य बढ़ता ही रहना चाहिए।

प्रेम सदा बढ़िबो करै, जो विधिहू बिपरीति।
पै पूनो यामें नहीं, ना कोई मीत अमीत॥

इसी मार्ग के ही सहारे माँ कौशिल्या अपने राम जैसे लाल को वन पथ पर अग्रसर कर सकी।

प्रेम और मोह में बहुत अन्तर है। यदि किसी भी प्रकार के थोड़े से भी स्वार्थ की भावना प्रेम में लगी है तो वह मोह कहलाएगा। और ऐसा प्रेम जिससे हमारा उत्थान हो रहा हो प्रेम कहा जा सकता है। वास्तव में विचार दृष्टि से प्रेम करना सब जानते हैं परन्तु उनके प्रेमास्पद पृथक पृथक हैं। यदि विनाशी के प्रति प्रेम है तो वह भी विनाश को प्राप्त होगा। जिस वस्तु का अस्तित्व नश्वर है वह देश

काल, व्यक्ति तथा वस्तु से बाधित है। इसके विपरीत यदि अविनाशी से प्रेम है तो वह कभी न कभी प्रेमी को अविनाशी बनादेगा।

प्रेम की शाहन्शाही व्याख्या अपने ढंग की है। प्रेम का अर्थ है "मैं से परे" जहाँ पर मैं, मेरा, तू, तेरा का व्यापार समाप्त हो जाता है वास्तव में वहां से प्रेम मार्ग प्रारम्भ होता है। ऐसे मार्ग के पथिक की दशा सर्व साधारण से विचित्र होती है। इस प्रेम के मार्ग में जो चलना चाहे तो वह कवि के शब्दों में ही समझलें—

प्रेम का पंथ निराला साधो।
धन दौलत कंकर सम भासे,
घर दर गड़बड़ झाला, साधो....
'शाहन्शाह' इस पंथ में जनो,
सम हैं अदना आला। साधो---

इस पद में वर्णित मार्ग का मनुष्य को भली प्रकार निरीक्षण कर लेना चाहिए। यदि एक बार उस पर चल पड़ा तो फिर उसे प्रेम कुटी के दर्शन होंगे। उस कुटी की भी व्याख्या कवि ने इस प्रकार की है—

प्रेम कुटी करो बासा साधो,
ज्ञान की छत और ध्यान की खिड़की
नीव रखो विश्वासा, साधो---
अनहद का तुम डंका बजाकर,
मन को दो बनबासा, साधो....
रंक 'शाहन्शाह' और नर नारी,
सुख से करो निवासा, साधो....

इस प्रकार की जब कुटियां बहुत हो जाती हैं तो फिर एक नगर बस जाता है। यदि आप उस नगर के किसी नागरिक से पूँछे कि यहाँ पर आप का रहन-सहन किस प्रकार का है तो वह कहेगा

हम प्रेम नगर में रहते हैं,
जो आय बने सो सहते हैं।
और मुख से कुछ नहीं कहते हैं,
याँ शादी ग़मी की रीति नहीं ॥

यह देश एक देश निराला है,
ना कण्ठी है ना माला है।
सब घरों की एक ही ख़ाला है,
याँ मन्दिर और मसीत नहीं ॥

यां 'शाहन्शाह' का बासा है,
पग पग पर खेल तमाशा है।
कर्मों की निकली फाँसा है,
कोई मीत और कोई अमीत नहीं ॥

प्रेमी स्वयम् ही इसका आनन्द समझते हैं। क्योंकि यह अपनी वस्तु है। उसमें किसी का साझा नहीं है।

इस मार्ग में प्रलोभन तथा कठिनाइयाँ बहुत हैं। माया न जाने किस किस का रूप बनाकर सामने आती है और प्रेमपथ से हटा कर मोह पाश में बाँध देती है। प्राणी जान भी नहीं पाता कि यह कब हुआ। हाँ जब कभी काल का तमाचा लगता है तब वह समझता है कि उसे भ्रम था। प्रेम के स्थान पर उसे मोह गिरा देता है।

प्रेमी का हृदय सरस होता है। वह अनेकत्व में रहकर भी एकत्व की भावना दृढ़ रख सकता है। यह कार्य उतना सरल है नहीं। एक दूसरा समुदाय भी है जो विचारवान कोटि में रक्खा जा सकता है। संसार के स्वरूप का विचार करके जो इसमें रहेगा, उसमें विवेक उत्पन्न हो जायगा वह सार असार तत्त्व को भली प्रकार समझ कर

सार ग्राही बन जायगा। ऐसा व्यक्ति इस संसार का रूप जब समाज में रक्खेगा तो कहेगा—

दुनिया धोखे की टट्टी है।
यां जो दीखत सो मट्टी है॥
पहले मीठी मध्य सलोनी।
अन्त में यारो खट्टी है॥
सदा चहो जो सूफ़ी रहना।
बचो यह मद् की भट्टी है॥

अथवा

सारी दुनिया को आज़माया है।
खुद नुमा हर किसी को पाया है॥
जिसने दुनियां में दिल फँसाया है।
रोग इक जान को लगाया है॥

× × ×

है 'शहन्शाह' वह ही आलीजाह।
जिसने दुनिया का ग़म भुलाया है॥

उसके द्वारा मानव को यह चेतावनी मिलेगी कि —

दुनियां के सभी काम हैं नाकामी के लिये।
हैं नाम सब जहान के बदनामी के लिये॥
करते तो फ़ेल बद हैं व लेकिन ऐ 'शहन्शाह'।
मरते हैं सभी लोग नेकनामी के लिये॥

इस प्रकार के विचारों से युक्त वह वैराग्य वान् उस शुद्ध तत्व को समझ जाता है कि त्रिदेव जिसमें अपने कार्य कारण सहित लय हो जाते हैं। वह रुक न सकेगा और अपनी मस्ती में यह गीत गाता हुआ जन्म मरण बन्धन से विमुक्त हो जायगा।

ब्रह्मा विष्णु रुद्र सदाशिव।
कर्तृ पात्र प्रहर्तृ सदाशिव॥

ज्ञान विधाता पोषक रक्षक।
मुक्ति विनायक त्राता सदाशिव ॥
विद्या वारिधि पालक नायक।
'शाहन्शाह' भय हारी सदाशिव ॥

इस प्रकार के काव्यान्तरगत साहित्य बड़े उच्च कोटि का जान पड़ता है। कवि ने हिन्दी के अतिरिक्त देश की अन्य भाषाओं में विशेषत: फ़ारसी, उर्दू, अंग्रेज़ी तथा पंजाबी में भी बड़े सुन्दर काव्य की रचना की। उन पंक्तियों में हमारे ऋषियों के प्राचीन सिद्धान्त मिलते हैं। विषय विस्तार भय से हम उसमें अधिक न उतर सकेंगे। उनका आनन्द तो उन ग्रंथों की अपनी देन है। एक प्रकार का अमृत सागर है। जिसका जी चाहे उसमें से रस पान करके छके। एक दो प्रसंग हम उद्धृत करते हुये आगे विचार करेंगे फ़ारसी काव्य—

दीनो दुनिया मज़हरे रहमान हस्त।
कुफ़्र लेकिन दर्मियां शैतान हस्त॥
कुफ़्र करादन खामिए इन्सान हस्त।
वरना आं खुद सूरते रहमान हस्त॥
ऐ 'शाहन्शाह' हर कि ज़ेरे नफ़्स हस्त।
जानवर दर सूरते इन्सान हस्त॥

अर्थ—दोनों लोक केवल प्रभू के दृश्य हैं। (परन्तु) अहंकार रूपी असुर ही एक पटल (परदा) है। अहंकार करना ही मनुष्य की त्रुटि है। नहीं तो वह स्वयम् ही ईश्वर रूप है। शाहन्शाह जी महाराज कहते हैं कि जो कोई मन के आधीन हो वह मनुष्य की सूरत में पशु है।

किसी अन्य स्थान पर—

चन्द दिन ईं गरमिए बाज़ार हस्त।
आख़िरश ईं कारवाँ ख़ाहद रवां॥

ऐ 'शहन्शाह' क़ब्ल गुफ़तन होशियार ।
क़ौल बाशद गश्ता नाविक अज़ कमाँ ॥

अर्थ—इस मेले की गरमी थोड़े दिन की है, अन्त में यह बनजारा लद जायगा। शाहन्शाह जी महाराज कहते हैं कि शब्द बोलने से पहले सावधान रहो, कहा हुआ बचन धनुष से निकले हुए तीर के समान है।

पंजाबी—

तेरे मिलन दा चा असाँ नू;
तेरे मिलन का चा! असाँ नू।
तेरे दरस बिना होयाँ बावरी,
न सानूँ तरसा।
काह नूँ हुन तूँ छुप छुप कहवें,
घुंगट पट दें चा॥
परदा दूर तू करके सजनाँ,
सामने साडे आ।
नज़र तू वल्ली करके प्रीतम,
झात असां वल पा॥
जे तू मिलें ताँ शीतल होवां,
चुक्के दिल दो चा!
करके गल्ल तूँ नाल आ साडे,
झगड़े झेड़े मुका॥
'शहन्शाह' तूँ करके क़िरपा,
कड़ दे गल तों फाह॥

अङ्गरेजी—

My lord you are the only thing
Which can endless happiness bring·

All the worldly persons places or things .
Are like the birds which have no wings.

अर्थ —

आप ही हैं चीज़ ऐसी,
ऐ ख़ुदा ए ज़ुल जलाला।
दे सके जो ऐसी राहत,
जिसको ना आए ज़वाल ॥
दुनियाँ के सारे मुक़ामों,
आदमिओं चीज़ें नीज़।
हैं यह ऐसो पंछी जिनके,
पर नहीं हैं और न बाल ॥

अभी तक प्रेमियों को संक्षेप में शाहन्शाह ही पद्य साहित्य का दर्शन अल्प मात्रा में कराया गया। तुलनात्मक विवेचन से पता लगेगा कि यह साहित्य सर्व कालीन सन्त मत का प्रतिपादन करते हुए जन समाज को सुख शान्ति के नवीन ढंगों द्वारा भगवान तक पहुंचाने में सर्व समर्थ है। इन्हीं कविताओं में वर्णित सिद्धान्तों को गद्य में बड़े सरल वाक्यों में लिखा गया है। सांसारिक बखेड़ों से लोहा लेते हुए यदि आप शान्ति माता की गोद में बैठना चाहें तो आइये मन रूपी ताले की कुंजी इस साहित्य से ले लीजिये। मन के ताले को खोलकर उसमें रखे हुए शौच, सन्तोष, शील, प्रेम, भजन, भक्ति आदि आदि रत्नों को स्वेच्छा पूर्वक ले लीजिये और आनन्द उठाइये। 'मन की कुंजी' शाहन्शाही साहित्य में अमर ग्रन्थ है। इसकी व्यापकता का इससे अधिक क्या प्रमाण होगा कि इसके अनेकों संस्करण समाज की सेवा में पहुँच चुके हैं। ग्रन्थकार पथिक को शान्ति मन्दिर की ओर अग्रसर करते हुए पहले माया ठगिनी से भेंट कराते हैं और जब पथिक उसके साथ चलते २ थक जाता है और उसका आध्यात्मिक उत्थान नहीं होता तब उसे खेद होता है। चित्त में संसार के प्रति

खेद होना ही ज्ञान मार्ग में पदार्पण है । बिना विशाद हुए संसार में किसी को ज्ञान नहीं होता और न कोई उसे उपदेश ही देता है । शंका यह हो सकती है कि जब आज कल उपदेश जन समाज के लिये अत्यन्त सरल है । कुछ ही पैसों में अच्छा से अच्छा साहित्य ले लीजिये । सन्त समाज अपने उपदेशों से सत्संगियों को आनन्दित करता रहता है फिर भी समाज में ज्ञान मार्गी नहीं दिखाई देते । इसके उत्तर में हमें हमारे ग्रन्थ यही उत्तर देते हैं कि हमें इस संसार से विषाद नहीं है । गीता का उपदेश 'अर्जुन विषाद योगो नाम प्रथमोऽध्यायः' से प्रारम्भ होता है । कवि सम्राट तुलसी के साहित्य में अनेकों स्थलों पर इस सिद्धान्त की पुष्टि पाई जाती है ।

निषाद को जब विषाद हुआ, लक्ष्मणजी ने उपदेश (लक्ष्मण-गीता) सुनाया । भक्त विभीषण जब रणस्थल में अधीर हुआ उसी समय राम ने उपदेश दिया जो अजयरथ के नाम से प्रसिद्ध है । अतः जबतक हमारे हृदय में भी आत्म ग्लानि नहीं होती सब उपदेश पढ़ते, सुनते कहते हुए भी दशा समझ में नहीं आती ।

शान्ति के मन्दिर की ओर जाता हुआ पथिक जब माया से निराश होकर उसका साथ छोड़ता है, उसे ज्ञान होता है कि उसका वह मार्ग ठीक नहीं है तो ऐसा ज्ञान होते ही उसे वैराग्य हो जाता है । वैराग्य का जीवन में पदार्पण होना ही मनुष्य को अध्यात्म की ओर ले जाता है । इसके पश्चात अभ्यास ज्ञान वैराग्य का सहायक बनकर दोनों को दृढ़ कर देता है ।

समस्त ग्रन्थ में उपदेशामृत भरा पड़ा है । काम क्रोधादि पंच विकारों का बड़ा विस्तृत विवरण दरसाते हुए लेखक का मंतव्य गीता के निम्नलिखित उपदेशों की पुष्टि करता है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
[गीता २।६२,६३]

अन्य स्थानों पर इन भावों का स्पष्टीकरण देखिये—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः
कामःक्रोधस्तथा लोभस्तस्मादितत्त्रयंत्यजेत्
[गीता १६।२१]

एक बड़ी आपत्ति साधक के मार्ग में समय की कमी की रहती है। यदि किसी से पूछो कि 'भजन करते हो?' तो उत्तर मिलता है, 'क्या कहें भाई फ़ुरसत ही नहीं मिलती।'

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं—

अंत समय में आयके, जम पकड़ेंगे बाँह।
उनसे भी कह दीजियो, हम कहँ फ़ुरसत नाँह ॥

सतत् विचारणीय बातें यह हैं—

(१) मस्जिद या मन्दिर महात्माओं का मन है वही सब का उपास्य स्थान है। वैसे तो—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
[गीता १८।६१]

(२) मैं सदैव पवित्र आत्मा के मन में प्रकाश रूप से रहता हूँ। यदि कोई मुझे प्राप्त करना चाहे तो वहीं ढूढ़ले।

अन्तर्यामी गर्भ गत, सन्त सुन्दरी माहिं।
तुलसी पोषे एक के, दोऊ पोषे जाहिं ॥

(३)

दुरंगी छोड़कर इकरंग होजा।
सरापा मोम हो या संग होजा ॥

जहाँ राम तहँ काम नहिं,
जहाँ काम नहिं राम ।
तुलसी दोउ किमि रहि सकैं,
रवि रजनी इक ठाम ॥

एक और प्रश्न साधक के सन्मुख उपस्थित होता है वह यह है कि भजन में मन नहीं लगता,

खुदा का ध्यान करता हूँ,
बुतों का ध्यान आता है ।

इसका मुख्य कारण है कि—

तुलसी मन तो एक है,
जित ही चाहो, लगाव ।
भावे हरि का भजन कर,
भावे पाप कमाव ॥

मन जितना विषयों का चिन्तन करता है उतना दिव्यशक्ति से हीन होता है। इसकी वृत्तियों के अनुरूप इसकी आज्ञा मानना ही इसे दबु ल करना है। और इसकी बात न मानकर बुद्धि से काम लेने पर यह तप से बलवान् बनता है ।

आप मन को निर्बल करने का एक बड़ा सुन्दर ढंग बताते हैं वह यह है कि यदि मन विषयों में जाता है तो या तो उसके पीछे लग लें कि किधर जा रहा है। बस वह वहाँ से लौटेगा। अथवा मनको ही विषयों में भ्रमण करने दें। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को न जाने दे। अन्त में वह काग जहाज़ की तरह वहीं लौट कर आ जायगा।

जब मन सबल हो जाएगा तब ही वह भजन में लग सकेगा। जब वह भजन में लग जाए तब उसे पूर्ण पुरुष अथवा गुरू की खोज करना चाहिये। इसके लिये वह साधु समाज का आश्रय लेगा। इस समाज में गुरू की परख के लिये आप कहते हैं कि भला सूर्य उदय हो और प्रकाश न हो। हाँ यदि हम रज़ाई में से सिर ही बाहर न

निकलना चाहें तो दूसरी बात है। आप ने साधुओं को सात श्रेणियों में विभाजित किया है। इन सबका आधार भगवान कृष्ण के शब्दों में आपको मिलेगा। अतः उनका विभाजन गीतोक्त है। साधू की पहचान के लिये भगवान का यह संकेत है—

अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिःशौचमद्रोहो नाति मानिता ।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥
दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेवच ।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम ॥

[गीता १६।१,२,३,४]

इन लक्षणों से युक्त साधु ही गुरु पद पर अभिशिक्त हो सकता है। उसके द्वारा दिये गए सन्देश से ही जीव अमरत्व को प्राप्त कर सकेगा।

जीव ब्रह्म की एकता का निर्णय लेखक ने भली प्रकार से किया है। आपके मतानुसार।

"ईश्वर अंश जीव अविनाशी"

का सार्वभौम सिद्धान्त सर्वमान्य है।

ममऐवांशों जीव लोके जीव भूतः सनातनः

[गीता]

लेखक का मंतव्य है कि प्रत्येक जीव यह पांच बातें अवश्य चाहता है (१) सदैव जीवित रहना (२) कभी दुखी न होना (३) सदा सुखी रहना (४) सब पर अनुशासन करना, (५) किसी से भी अनुशासित न होना। इन्हीं पांचों की खोज में मानव जन्म से मृत्यु पर्यन्त प्रयत्नशील रहता है। यदि हम विचार करें तो पता चलेगा

कि उपरोक्त पांचों बातों की पूर्ण पराकाष्ठा हमको जहाँ भी मिलेगी उसी को हम ईश्वर, परमात्मा, अल्ला, गॉड जिस नाम से भी चाहें पुकारें। जिस प्रकार से अग्नि अपने अंशी सूर्य, जल अपने अंशी समुद्र की ओर बढ़ता है ठीक इसी प्रकार जीव की उपरोक्त बातों की खोज इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि जीव ईश्वर का अंश है॥ अँश तथा अँशी के गुणों में अभिन्नता होती है। केवल शक्ति में भेद हो सकता है। यह लेखक के लेख का मंतव्य है। ग्रन्थकार यह भी कहते हैं कि ऐसा विचार करते ही हृदय में आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ेगा। उस समय वह भी कबीरदासजी के सदृश्य कह सकेगा।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिसको कछू न चाहिये, वह ही शाहन्शाह॥
चाह चमारी चूहरी, सब नीचन की नीच।
तू तो पूरण ब्रह्म था, चाह न होती बीच॥
मरने से सब जग डरे सो मेरे आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरण परमानन्द॥

यथा—

मैं खुदा था गर न होता दिल में कोई मद्दआ।
आरजूओं ने हमारी, हमको बन्दा कर दिया॥
लाग़रज़ होकर मज़े से ज़िन्दगी कटने लगी।
तरके ख्वाहिश ने हमारा बोझ हलका कर दिया॥

बात यह है कि संत को समझने के लिये संत हृदय चाहिये। जो जितना अपने को सन्तों के लक्षणों से युक्त कर सकेगा वह ही मन की कुंजी को प्राप्त करेगा और जब कुंजी ही मिल गई तो फिर आनन्द कोष को खोल कर आनन्दित होने में क्या देर है। वह ऐसा हीरा है कि उसका मोल आँकना आसान नहीं है। लेखक ने हीरा शीर्षक में रूपक में उस आनन्द तथा भगवन्नाम के मूल्य का वर्णन किया है कि साधक अपनी स्थिति के अनुसार ही उसका मूल्य आँकता है। देखिये

वस्तु एक ही होने पर भी फल देने में अधिकार, वर्तव्य, तथा साधना की परख करा देती है। उस हीरे का मूल्य आँकनेवाले चार ही श्रेणियों में रखे जा सकते हैं जिन्हें पहले कह आए हैं।

रामभक्ति जग चारि प्रकारा,
सुकृती चारिहुँ अनघ उदारा॥
चहुँ चतुरन्ह कहँ नाम अधारा।
ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा॥

इन चारों प्रकार के भक्तों की साधना का स्तर पृथक-पृथक है। परन्तु चारों की जिज्ञासाओं की पूर्ति पृथक-पृथक रूप से भगवन्नाम से ही है।

नामजीहँ जपि जागहिं जोगी।
बिरति बिरंचि प्रपंचि बियोगी॥
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा।
अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ।
नाम जीहि जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ।
होहिं सिद्ध अणिमादिक पाए॥
जपहिं नाम जन आरत भारी।
मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥

वास्तव में हीरा एक है पर सुख सबको उसकी रुचि के अनुसार देता है।

ऐसा हीरा पाकर मनुष्य का स्वभाव बदल जाता है। उसके जीवन में सन्तोष बढ़ जाता है। सन्तोष भी क्या विलक्षण देन है।

कवि श्रेष्ठ रहीम जी कहते हैं—

गोधन गज धन वाजिधन,
और रतन धन खान।

जो आवै सन्तोष धन,
सब धन धूरि समान ॥

इतना ही नहीं लेखक की दृष्टि में मनुष्य के जो तीन बड़े भीषण बैरी हैं जो उसे सीधे नरक में ले जाने का दम भरते हैं उन सब को निर्मूल करने के लिये एक ही औषधि है वह है सन्तोष।

(काम) बिनु सन्तोष न काम नसाहीं।
काम अछत सुख सपनेहु नाहीं ॥
(लोभ) उदित अगस्त पंथ जल सोषा।
जिमि लोभहिं सोषहिं सन्तोषा ॥
(क्रोध) नहिं सन्तोष तो पुनि कछु कहहू।
सहि रिस रोकि दुसह दुख सहहू ॥

ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ की समाप्ति की ओर कुछ बचन कहते हैं। वह अनमोल हीरे हैं। उनमें से यदि एक बचन भी हृदय स्थित हो जाए तो बस सब दौड़ समाप्त होकर आनन्द ही आनन्द है।

शाहन्शाही साहित्य का प्रचार गङ्गा प्रवाहवत चल रहा है। महात्मा ने अपनी लेखनी को इन ही ग्रन्थों तक सीमित नहीं रखा। बालकों की समस्या जब सामने उपस्थित हुई तुरन्त "बाल चालीसा" का जन्म हुआ। सरल शब्दों में, सुन्दर राग में बालकों के हृदय को प्रभावित करने वाली सरल चौपाइयों में कविता की सरिता बह निकली। आज भी बालक उस चालीसे को अपना समझते हैं और बड़े प्रेम से मधुर स्वर में मिलकर गान करते हैं।

जिस समय भारत में स्वतन्त्रता देवी ने दर्शन दिया। माँ की बेड़ियाँ कटीं। पर उसके अङ्गों में विभाजन हुआ। उसके अनेकों लाल बेघर हो गए। लाखों व्यक्तियों का भारतवर्ष तथा पाकिस्तान में स्थान परिवर्तन हुआ। इतना ही नहीं न जाने कितनों की गोदें खाली हुईं। कितनों के सिन्दूर पुछें। कितनों के वंश दीपक बुझ गए और कितनों का फला फूला घर छूटा। उस समय उन पीड़ितों की दशा,

उनके करुण क्रन्दन से सन्त हृदय सहम गया। दया की भावना से प्रेरित होकर वह हृदय "मज़लूमों की भेंट" के रूप में जनता में आया। विषय अत्यन्त सुन्दर तथा सार गर्भित है। उसके अध्ययन से हतोत्साहित हृदय में उत्साह बढ़ता है। अकर्मी आलसी को उद्योग शील बनने का साहस मिलता है।

शाहन्शाही साहित्य सरोवर में जब भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि शुभ गुणों का जल बढ़ा तो वह "सर्वहितकारी" नामक मासिक पत्रिका का रूप धारण करके समाज में बह चला। जिस प्रकार से नदी अथवा नहर का जल भूमि के वक्षस्थल को शीतल करता हुआ उसे मुलायम कर देता है ठीक उसी प्रकार से "सर्वहितकारी" सर्व हित के उद्देश्य की पूर्ति करता हुआ हमें यह सन्देश देता है।

पर उपकार बचन मन काया।
सन्त सहज स्वभाव खगराया॥

सन्तों की प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कार्य चाहे वह कायिक, वाचिक अथवा मानसिक हों मानव का ही नहीं प्राणीमात्र का हित ही करते हैं।

"सर्वहितकारी" सर्वोपकार के हित की भावना की पूर्ति जब तक संसार देश काल की मर्यादा से बाधित रहेगा, तब तक सबकी सेवा करता रहेगा ऐसा उस महापुनीत महात्मा का आशीर्वाद है जिसने उसे जन्म दिया है।

सब ग्रन्थन को सार,
रे मन यदि चाहो चखन।
छांड़ि सकल व्यवहार,
शाहन्शाही ग्रन्थ पढ़ु॥

सत्य प्रेम

सृष्टि के आदि से जब मे मानव ने संसार में जन्म लिया होगा। उसके सामने जीवन नैया खेते रहने का प्रश्न उपस्थित हुआ होगा। प्रारम्भिक काल का जीवन बड़ा सरल होगा। उसमें किसी प्रकार की बाधाएँ न होंगी। सीधे सादे ढंग से सब लोग अपना व्यवहार करते होंगे। धीरे-धीरे उसके सामने समस्याएँ व परिस्थितियाँ उत्पन्न होने लगी होंगी। उनका कारण ऐसा जान पड़ता है कि उनमें उत्थान की अभिलाषा तथा जीवन का संघर्ष होगा। मानव के साथ साथ यदि हम अन्य योनियों पर भी विचार करें तो बहुत अंशों में समान स्थितियाँ मिलेंगी मानव में सत, रज, तम तीनों गुण पृथक पृथक अथवा मिश्रित देखे जाते हैं और अन्य योनियों म तमोगुण का ही विशेष आधिक्य है। इस कारण से उसके अतिरिक्त अन्य स्थानों में उतनी कठिन समस्याएँ नहीं मिलतीं। एक बात यह भी है कि मनुष्य योनि के अतिरिक्त अन्य योनियाँ प्राय: भोग योनियाँ हैं जहाँ प्राणी अपनी संचित कमाई का उपभाग करके उसकी समाप्ति पर पुन: यहाँ कमाई करने आते है।

परिस्थितियों की कठिनाइयों से ऊब कर मानव ने अवश्य यह चाहा हागा कि कोई ऐसा होता जो उसे उन आपत्तियों से बचाता। अवश्य मेव वह दु:ख से आतुर हुआ होगा। भगवान आर्त और दुखी को उस दशा में देख नहीं सकते और जब भी ऐसा व्यक्ति एकाग्रचित होकर सहायता चाहता है उसे सहायता मिलती है। इस प्रकार से जब उसकी कठिनाइयों का अन्त हुआ हागा तो उसे हर्ष भी बहुत हुआ होगा उस समय भी वह हर्ष से एकाग्रचित हो गया होगा। यह दोनों दशाएँ ऐसी हैं कि मानव के स्तर को ऊपर उठाकर सुख स्वरूप परमात्मा का साक्षातकार करा देती हैं। यह दूसरी बात है कि

कोई उससे लाभ न उठा सके। आरम्भ से ही विश्व में एक बात और भी है वह यह कि यहाँ के सभी प्राणी अपनी प्रकृति के वशीभूत हैं। यह प्रकृतियाँ दो ही प्रकार की मानी गई हैं। दैवी तथा आसुरी। हम देवताओं और दैत्यों के संघर्ष के विषय में बहुत समय से सुनते चले आ रहे हैं। और साथ में यह भी सुनते हैं कि कभी विष्णु ने, कभी ब्रह्मा जी ने और कभी श्री शंकर जी ने अवतार लेकर इनके संघर्ष को समाप्त कराया। इस बात का आश्वासन भगवान् गीता में देते भी हैं।

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम ॥

[गीता ४।७]

तो जिससे जिसको सुख मिलता है उसके कष्ट दूर होते हैं वह उसकी याद करता ही है। उसके गुण गान करता ही है। यह स्वाभाविक है। ऐसा जान पड़ता है कि देवी देवताओं, पीर पैगम्बरों, औलियाओं, भूतों, प्रेतों तथा शमसानों आदि की मान्यता इन्हीं गरज़मन्द मनुष्यों से मिली होगी। किसी भी धर्म की आलोचना न करते हुए हम यह कह सकते हैं कि यह हमारे धर्म में ही इतनी विशालता तथा उदारता है कि पीर पैग़म्बर की बात तो एक ओर रही यदि कोई चाहे तो पत्थर से, लकड़ी से, दीवार से, संसार की किसी भी वस्तु से जब चाहे तब वह उस परम शक्ति को प्रगट कर ले। हमारे देश में भक्तों ने ऐसा करके दिखला दिया। अभी लोग धन्ना भगत, रैदास जी, मीरा जी, श्री नरसी जी, गुरू नानक देव आदि-आदि सन्तों को नहीं भूले हैं और न भूलेंगे। इन सबों के लिये—

दर दुआर दर्पण भए, जित देखूँ तित तोहि।
काँकर पाथर ठीकरी, भए आरसी मोहि ॥
घट घट मेरा साइयाँ सूनी सेज न कोय।
बलिहारी वा सेज की, जा घट परगट होय ॥

विश्व की सभी वस्तुएँ उस प्रभु की झांकी कराती हैं।

हरि व्यापक सर्वत्र समाना,
प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।
देश काल दिसि विदिसिहु माहीं।
कहहु तो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

जब यह व्यापकता उस प्रभु का है और इतनी सुलभता उसके पाने की है तो यह प्रश्न स्पष्ट सामने आता है कि फिर यह सब उस ईश्वर के, नहीं नहीं, अमृत के पुत्र दुखी क्यों हैं—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी,
सकल जीव जग दीन दुखारी॥

और लोग हमें ढोंगी क्यों कहते हैं। यह एक गम्भीर प्रश्न है और विचारने के योग्य है। जहाँ तक गम्भीरता से विचार करते हैं तो पता चलता है कि इस प्रश्न के उत्तर में भेद दृष्टि और स्वार्थ परायणता जान पड़ती है। इन दोनों के आश्रित रह कर ही एक बड़े समय से साम्प्रदायिक झगड़े होते रहे हैं। कोई किसी देवता को, कोई किसी देवी को, तो कोई किसी अन्य को बड़ा कहता है। उसका माहात्म्य अधिक बताता है जिसका अर्थ यह है कि उसके अतिरिक्त और सब छोटे हैं। इन्हीं दोनों के सहारे लोग कहते हैं कि हमारे मत में आओ ईमान लाओ बस बिना कुछ किये हुए ही मोक्ष तो मिल ही जाएगी और यहाँ भी अनेकों सुख भोगोगे। विभिन्न सम्प्रदायों ने भोली जनता को भोगों के प्रलोभन में डाल कर बहुत इधर उधर भटकाया है। इस काम के लिये इस देश में विदेशों के न जाने कितने व्यक्ति काम करते रहे हैं और अब भी सतत् प्रयास कर रहे हैं।

पर इस प्रकार के रोने से कोई लाभ नहीं दिखाई देता। यदि हम कभी शान्त बैठ कर विशाल हृदय से विचार करें तो समस्त देवताओं में दैवत्व, ईश्वरों में ईश्वरत्व, अवतारों में प्रतिभा तथा अन्य पीर पैग़म्बरों, भूतों प्रेतों आदि के पूजन में मानवी मस्तिष्क में

उन सबके प्रति एक प्रकार की निष्ठा ही कारण मिलेगी। जिसका आधार उसकी दृष्टि में सत्य पर अवलम्बित होगा। मनुष्य के हृदय में चाहे भ्रम ही क्यों न हो परन्तु उसकी जहाँ निष्ठा है वहाँ उसके पीछे मस्तिष्क में सत्य अवश्य है। वास्तव में वह सत्य ही उस अखण्ड, अनन्त अचिंत्य शक्ति का द्योतक है। जिस समय वह वहाँ से हट जाएगा मनुष्य की आस्था उस स्थान से हट जाएगी। मानव में एक बड़ी कठिनता इस बात की है कि वह प्रत्येक बात बहुत शीघ्रता में चाहता है। और विशेषतः धार्मिक बातों में तो वह क्रिया का फल तत्काल देखना चाहता है। और यदि उस फल के देखने में उसे देर हुई तो ऊब कर उसे छोड़ देता है। परन्तु बिना आधार के वह चल नहीं सकता। अतः वह शीघ्र ही कोई दूसरा आधार पकड़ लेता है। फल प्राप्ति में यदि देर लगी तो फिर कोई और दूसरा आधार पकड़ने की चेष्टा करता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह किसी को भी नहीं पकड़ पाता और प्रत्येक साधनों से सशंकित होकर प्रत्येक बात को ढोंग, ढकोसला, निरा खाने पीने का ढंग कह कर समाज में सद्-गुणों के प्रति अश्रद्धा अविश्वास फैलाया करता है। ऐसा प्राणी कहीं भी शान्ति नहीं पाता। प्रत्येक के लिये यह कहकर कि "अरे इसमें क्या रखा है।" केवल उसे छोड़ ही नहीं देता वरन् दूसरों को भी जो बेचारे थोड़ी बहुत टूटी फूटी श्रद्धा से आगे बढ़ते हैं बिगाड़ कर पथ भ्रष्ट कर देता है। ऐसा व्यक्ति भी जब किसी आपदा में पड़ता है तब पहले तो इष्टमित्रों का आसरा लेता है। आज कल समाज में ख़ून देने वाले मजनूँ नहीं हैं, हाँ दूध पीने वाले बहुत हैं। उसे अधिक सफलता नहीं मिलती निराश होने पर वह कहीं आधार चाहता है जहाँ से उसे सुख मिले। उस अवस्था में वह जहाँ से भी उस प्रकार की आशा करता है वहीं उसका सत्य है। वही ईश्वर है। अतः जीवन में सत्य की आवश्यकता है।

एक और दृष्टि कोण से हम देखें तो जान पड़ेगा कि सहज भाव में हम प्रत्येक समय सत्य में ही रहते हैं। उसका कारण यह है कि संसार के समस्त पिण्ड पांच भौतिक प्रकृति के सिद्धान्तों के आधार पर क्रमबद्ध रूप से चलते हैं। वह सिद्धान्त पूर्ण रूपेण सत्य पर अवलम्बित है। अतः हम सत्य से बन्धे हैं। जब २ हम उस सत्य की अवहेलना करते हैं वह प्रकृति माता हमें क्षमा नहीं करती। वरन् दण्डित करके सत्य मार्ग पर लगाती है।

इस सत्य के तीन स्तर हैं। किसी घटना को अक्षरसः वैसा ही कह देना सत्य कहलाता है। घटना के पीछे हिताहित का विचार तथा अहिंसा का ध्यान करते हुए बात कहना पहले सत्य की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु सत्य का एक और भी स्तर है जो इससे भी ऊँचा है। जहाँ देश काल की सीमाएँ उसे बांध नहीं पातीं। उसे भगवान के शब्दों में देखियेः—

ना सतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपिदृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्व दर्शिभिः॥
(गीता २।१६)

एक दार्शनिक की दृष्टि में सत्य का यह रूप है। यह सत्य विश्व की समस्त वस्तुओं में है परन्तु सादे ढंग से देखने में नहीं आता। उस सत्य के ऊपर माया का आवरण है। इस आवरण की परख भगवान ने उपरोक्त सूत्र में बताई है। इसे ध्यान में रखकर विचार रूपी कैंची से संसारी वस्तुओं को (अपने शरीर को भी) काटते जाइये। अन्त में जिसे आप काट न सकें बस वह सत्य होगा और कट जाने वाली वस्तु माया होगी। वही आगमापायी है। उसको जहां की तहां रहने दीजिये वह वास्तव में जीवित ही तब तक है जब तक कि उसने सत्य का सहारा ले लिया है। वह वस्तु असत होने के नाते आप का कुछ बिगाड़ नहीं सकती। और यह भी नितान्त असम्भव

है कि आप सारे असत्य को एक किनारे घर में डाल दें। संसार का रूप ही ऐसा है—

जड़ चेतन गुण दोष मय, विश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार।।

कवि सम्राट सांकेतिक भाषा में बताते है

जेहि जाने जगजाय हेराई। जागे यथा स्वप्न भ्रम जाई।।
बन्दौं बाल रूप सोइ रामू। सब बिधि सुलभ जपत जेहि नामू।।

सत्य अनादि काल से स्वत: सिद्ध है इसके लिये किसी बहुत बड़े शास्त्रीय प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। बड़ी सरलता से समझ में आ जाता है। यहाँ पर जिस वस्तु का हम नाम लेते हैं वास्तव में वह उसके गुणों का पुन्ज है। जैसे एक काष्ट खण्ड (लाठी) को ले लीजिये। लाठी क्या है? इस पर विचार कीजिये। उसका आकार, प्रकार, गन्ध, घटना बढ़ना आदि २ तो उसके गुण हैं। यह किसी वस्तु के विशेषण हैं। वस्तु नहीं हैं। यदि लाठी को जला दिया जाय तो उसकी भस्म बन जायगी। पृथ्वी के गर्भ में पहुँच कर वह भस्म अन्य वृक्षों के उत्पादन करने की शक्ति कालान्तर में प्राप्त कर लेगी। Law of conservation of energy के अनुसार हम वस्तु का केवल रूपान्तर कर सकते हैं। उसे समूल नष्ट नहीं कर सकते हैं। अत:सत्य समस्त दशाओं में अविनाशी शाश्वत चिरंतन है। वह व्यक्तित्व तथा पदार्थ की पकड़ में नहीं आता।

तुम्हारो नाम रूप नहि कोई।
तुम बिन नाम रूप नहिं होई।।

उस सत्य को अपनाने के लिये हमें भी व्यक्तित्व तथा पदार्थों की दासता से बचना पड़ेगा। और प्रयास भी करना पड़ेगा कि हम अपने स्तर को ऊँचे लेकर चलें।

ऐसा कल्याण मय सत्य कैसे अपनाया जाए। यह एक गम्भीर प्रश्न है। परन्तु इसका उत्तर हम एक छोटे बालक में पा सकते हैं।

वह कितनी सरलता से अपने शब्दों में सत्य के दर्शन कराता है यह सभी जानते हैं। उसके लिये उसे वैसा करने में न तो किसी प्रकार का भय होता है और न कुछ आगा पीछा सोंचना पड़ता है। हम लोग भी जब छोटे थे तब सत्य के पुजारी थे। सत्य बोलते थे। परन्तु बड़े होने पर वैसा क्यों नहीं करते ? इसका उत्तर हम अपने आप से पूछें। उसके अतिरिक्त भौतिक वाद की चमक, पश्चात्य देश की शिक्षा दीक्षा, विलासिता पूर्ण जीवन, फ़ैशन की आँधी, चलचित्रों की कृपा, बीड़ी सिगरेट आदि मादक वस्तुओं की बाहुतायत समाज में निन्दा स्तुति से भरे हुए निम्न स्तर के साहित्य आदि ने उस सत्य को अपने में से और समाज में से हटाया है। और लोग यह समझने लगे हैं कि अब सत्य का समय नहीं रहा। जो सत्य बोलता है दुखी रहता है और इसके विपरीत जो असत्य भाषी है बड़े मौज से सुख पूर्वक जीवन चलाता है। इतना होने पर भी वह सत्य से भयभीत रहते हैं। यदि उनसे कोई कहे कि ज़रा खड़े हो कर सत्य के विपक्ष में आवाज़ उठाओ या दूसरों से कहो कि असत्य बोलो, चोरी करो, तो बड़े घबड़ाते हैं और कहते हैं कि ऐसा कैसे हो सकता है। असत्य कोई कैसे बोल सकता है ? तो वास्तव में निष्कर्ष यह निकला कि हम से कोई असत्य न बोले क्योंकि असत्य भाषण बहुत बुरा है। परन्तु अपने लिये सत्यासत्य का कोई बन्धन न हो। यही कारण है कि हम जब छोटे थे तब अधिक सत्य के समीप थे। ज्ञात में अथवा अज्ञात में जैसे भी समझें सत्य तो हमें सदैव प्रिय है क्योंकि वह ईश्वर का रूप है।

सत् स्वरूप परमात्मा, सब का है आधार।
यत्र तत्र सब सत्य है, सत का कर व्यवहार॥

एक महात्मा का यह दोहा प्रायः सभी को स्मरण होगा—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदय साँच है, ताके हृदय आप॥

नहिं असत्य सम पातक पुँजा,
गिरि सम होंहिं कि कोटिक गुँजा।

यह भी एक विचारणीय बात है कि सत्य को अपनाने के लिये किसी साधन विशेष की आवश्यकता नहीं पड़ती और न उसके लिये बनावट तथा अन्य उपाय चाहिये। एक बार सत्य बात कहकर फिर चुप हो जाना पड़ता है। इसके विपरीत एक असत्य को सत्य सिद्ध करने में और अनेकों असत्य जुटाने का प्रश्न उठ खड़ा होता है और क्या भला यह हो सकता है कि सौ असत्य अथवा एक सहस्र असत्य मिलकर एक सत्य बन सकें?

समाज में और अपने में सुधार का सबसे सीधा सादा ढंग यही है कि हम सत्य को अपना लें। (परन्तु कटु सत्य से भी सावधान रहें। सत्य के साथ अहिंसा को भी ध्यान में रखें।) तो अपना सुधार अवश्य हो जायगा। स्वार्थ परायणता घटकर प्रेम का उद्रेक हो जायगा। इस प्रकार व्यक्तिगत सुधार से ही समाज सुधरेगा।

हमारे सामने दूसरा प्रश्न प्रेम का है। शब्द बड़ा सरल जान पड़ता है। सभी इसस परिचित हैं। महात्माओं ने बड़े २ ग्रंथों की रचना केवल इसी शब्द पर की है। परन्तु फिर भी "प्रेम किसको कहते हैं? यह प्रश्न उत्तर के लिये खुला है। जो चाहे उत्तर दे तात्विक दृष्टि से उत्तर देने में मानव अपने को अपूर्ण ही पायेगा। क्योंकि प्रेम वास्तव में भगवान् का ही रूप है। भक्त रसखान जी तो ऐसा ही कहते हैं

प्रेम हरी को रूप है, हरि हैं प्रेम स्वरूप।
दोउ एक में मिलियौं लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप॥

आपने प्रेम पर अपने विचारों को अनेकों दोहों में व्यक्त किया है। विस्तार भय से केवल तीन चार दोहे नीचे दिये जाते हैं।—

प्रेम २ सब कोई कहे, प्रेम न जाने कोय ।
जो जन जाने प्रेम को, मरे जगत क्यों रोय ॥
कोउ याहि फाँसी कहत, कोउ कहत तरवार ।
नेजा भाला तीर कोउ, कोऊ अनोखी ढार ॥
पै मिठास या मार की, अङ्ग अङ्ग भरपूर ।
मरत जियै झुकतौ थिरै, बने सो चकना चूर ॥

प्रम की पराकाष्टा पर पहुँच कर दादू दयाल जी भी चुप न रह सके और बोले—

आशिक़ माशुक़ होय गया, प्रेम कहावे सोय ।
दादू उस माशूक़ पर अल्लाहि आशिक़ होय ॥

प्रेम की झलक केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं है । शेष जो अन्य योनियां हैं यहाँ तक कि स्थावर जङ्गम सब में प्रेम दर्शन देता है कहीं २ व्यक्त हो जाता है और कहीं २ अव्यक्त रहता है और समय पर दिखाई देता है ! वैज्ञानिकों की सूझ है कि इस कथन में सत्यता है कि प्रेम ईश्वरवत् ओत प्रोत है ।

प्राणी दूसरों की मुद्रा को पहचानते हैं । कुत्ता अपने स्वामी के पास सस्नेह पूँछ हिलाता है । मृग मुनियों की पीठ से अपनी पीठ खुजलाते हैं । तुलसी बाबा तो कहते हैं कि प्रेम प्रवाह से प्रभावित हो कर

हित अनहित पशुपच्छिहु जाना ।
मानुष तन गुण ज्ञान निधाना ॥

इतना ही नहीं हिंसक पशु अपनी क्रूरता भूल जाते हैं । संसार के सारे नाते एक इसी सूत्र में बँधते हैं । परन्तु यह दूसरी बात है कि हम उसके वास्तविक रूप को न समझ कर उससे नीचे उतर कर मोह में पड़ जाएँ । और जहां २ हमारा मोह हो वहाँ हम प्रेम समझ बैठें । यदि ऐसा कर गए तो न जाने वह मोह हमें कब तक और कहाँ आपत्ति में फँसा कर गढ्ढे में गिराकर रुलाए ।

सन्तों की भाषा में प्रेम का बड़ा विलक्षण अर्थ है। वह कहते हैं कि वास्तव में "मैं से परे हो जाना" प्रेम शब्द का शुद्ध अर्थ है और ऐसे तो यह दोहा बहुत लोग जानते हैं

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढ़ाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पण्डित होय॥

परन्तु

प्रेम में भाई होत कहुँ, द्वैत भावना भास।
मिलन बिछोहा होत नहिं, प्रीतम तेरे पास॥

आप कहेंगे कि यह प्रेम के ढाई अक्षर हम किस पुस्तक में पढ़ें? इसके लिये सबसे सरल और उपयोगी पुस्तक प्रकृति की है। जो सदैव खुली रहती है। रात्रि का अन्धेरा इसके अक्षरों को छुपा नहीं सकता। दिन रात के परिवर्तन इसे बन्द नहीं कर सकते। और जिसके पढ़ने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि कोई विश्वविद्यालय में पहले पढ़े तब प्रकृति की पुस्तक पढ़े। वह सर्व देशीय है सब काल के लिए है। इसके अक्षर इतने सुन्दर और सरल हैं कि यदि हम थोड़ा सा भी सावधान होंगे तो वह तुरन्त पढ़ी जा सकेगी। यह पुस्तक कब कैसे और क्यों बनी? इसका लेखक कौन है? इन प्रश्नों का उत्तर हम पीछे ढूँढ़े पहले इसे पढ़ें। इसमें दो प्रकार के अक्षर मिलेंगे। सरल अक्षर तथा संयुक्ताक्षर। बालकों को पहले सरल अक्षरों का ज्ञान कराया जाता है और फिर आगे चलकर उन्हें संयुक्ताक्षरों का भी ज्ञान हो जाता है। यही मार्ग प्रकृति की पुस्तक पढ़ने का है। राम सरल अक्षर है। यदि वह समझ में आया तो रावण जो संयुक्ताक्षर है पीछे वह भी समझ में आ जाएगा। इसी प्रकार से माँ सरल अक्षर में है। पहले उस से प्रेम करना सीखना चाहिये। यह बात हमें सन्त विनोबा भावे जी अपनी गीता प्रवचन नामक पुस्तक में बताते हैं। हमें अपनी माँ के लिए किसी चुनाव की आवश्यकता नहीं कि उसमें मत-गणना की जाए। वह तो हमारे लिये भगवान की ओर से निश्चित

है। माँ मानो प्रेम की प्रतीक है। नहीं नहीं वह साक्षात् प्रेम का अवतार है। यदि द्वैत में अद्वैत का दर्शन करना हो और प्रेम में द्वैताद्वैत का अभाव हो जाता है यह देखना हो तो माँ में देखना चाहिये। जिस समय वह वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर अपने नवजात शिशु को स्तन पान कराती है उस समय दोनों को तन्मयता प्राप्त हो जाती है। भौतिकवाद का उपासक नव समाज पूछता है कि क्या ईश्वर इतना सरल है जैसी कि हमारी माँ ? तो उत्तर यह है कि हाँ। प्रेम स्वरूप परमात्मा उतना ही सरल है जैसी कि माँ। सर्वप्रथम जीव को पाँचभौतिक कलेवर प्राप्त करने के लिये माँ चाहिये। और जन्म लेने पर पहले उससे ही परिचय प्राप्त होता है वह जननी है और जनक भी है। उसकी अवहेलना करके इधर उधर ढूढ़ना और संयुक्ताक्षरों में सरल अक्षरों की कल्पना करके समय खोना व्यर्थ में समय नष्ट करना होगा। यदि कोई कहे कि हूँ ! माता में मैं उसको नहीं देख पाता तो ऐसा समझना चाहिये कि मानों वह सूर्य की गोद में बैठना चाहता है। उसे तो सूर्य चाहिये, धूप नहीं चाहिये। ऐसा व्यक्ति निष्फल प्रयासी होगा। कदाचित् उसे सूर्यदेव मिल भी जाएँ और उसके लिये अपनी गोद रिक्त कर दें और कहें कि आओ बैठो, तो यह स्पर्श सुखकर न होगा। स्पष्ट है कि वह जल जाएगा। हाँ ! यदि सूर्य का प्रयोग करना है तो उसकी रश्मियों को ग्रहण करना ही बुद्धिमत्ता होगी। महात्मा विनोवा जी एक अन्य स्थान पर अपने ग्रन्थ में कहते हैं कि यदि बर्फी, मालपुआ, ख़स्ता आदि पचे नहीं और दूध रूचे नहीं तो फिर इसका क्या उपाय है। विवशता वश जब वैद्य भोजन रोक देगा तब रोगी को और भी कष्ट होगा। फिर तो समझना चाहिये कि हम पतन की ओर जा रहे हैं।

माँ से प्रेम करने पर वह अनूठा प्रेम मूर्तिमान होता है कि फिर मानव उसके स्वाद के लिये व्यक्ति तथा वस्तु की अकाँक्षा नहीं करता। क्योंकि यह दोनों वस्तुएँ काल ग्रसित हैं और उनका अदर्शन किसी

न किसी समय अवश्यम्भावी है। इनका प्रेम किसी न किसी दिन रूला सकता है। प्रेम के प्राङ्गण में हानि, लाभ, मिलन बिछोहा, सुख, दुख आदि द्वन्द्व नहीं होते।

प्रेम का पन्थ निराला साधो।
धन दौलत कंकर सम भासे, घर दर गड़बड़ झाला॥
गाली झिड़की मधुर मिठाई, विष है अमृत प्याला।
हानि लाभ एक सार हैं या में, सम काला और माला॥
तीर तुफ़ङ्ग, है फूलों कि वर्षा, फल है बरछी भाला।
'शाहन्शाह' इस पन्थ में जानो, सम हैं अदना आला॥

विश्व का इतिहास ऐसे प्रेमियों से रिक्त नहीं है समय समय पर इन लोगों ने इस वसुन्धरा को अपने कृतियों से पवित्र किया परन्तु बहुत थोड़े मनुष्यों ने ही इन्हें पहचाना और अधिकाँश ने इन्हें सताया और अन्त में किसी को सूली दी, किसी की खाल खिंचवा कर भूसा भरवा दिया और न जाने कितनों को आग जला कर जलवा दिया और खाने पीने में विष मिला कर खिला दिया। वह प्रेमी पक्के प्रेमी थे। अपने पाँच भौतिक कलेवर को तो उन्होंने अवश्य बदला (और किन्हीं किन्हीं के लिये वास्तव में विष अमृत भी हो गया) परन्तु क्या उनके प्रेम का सिद्धांत बदला? कदापि नहीं। विश्व के गन्दे परदे पर भी उनका प्रेम निराकार होकर अधिक शक्तिशाली हुआ और जनता को उसके आगे नतमस्तक होना पड़ा। आज भी हम महात्मा ईसा, मन्सूर, साक्रेटिज़, शम्सतब्रेज, मार्टिनलूथर, हक़ीक़त राय, गुरू गोविंद सिंह के बालक, महाराणा प्रताप, तुलसी, मीरा, प्रह्लाद, सूरदास आदि को अमर पाते हैं। न जाने कितने राजाओं की वंश परम्परा समाप्त हो गई और आगे भी होती रहेगी परन्तु इन प्रेम के पुजारियों का नाम और उनकी कीर्ति अमर रहेगी। ऐसे न जाने कितने और नाम लिये जा सकते हैं और नाम ले लेने पर भी अगणित प्राणी उस पथ के पथानुगामी भी बनकर अपनी जीवन यात्रा समाप्त

कर गए, कर रहे हैं और करते रहेंगे। इन महापुरुषों के जीवन में ऐसी घटनाएँ घटी हैं जिन से यह कहा जा सकता है कि इन्होंने अपने आप को प्रेम की कसौटी पर कसा और परीक्षा के समय सफली भूत हुए। अतः प्रेमी के जीवन को यदि हम स्थित प्रज्ञ का अथवा भक्त का जीवन कहें तो अनुचित न होगा।

प्रेमी इन प्रेमियों के निर्दिष्ट मार्ग पर चलता हुआ संसार की ठोकरों को ठोकर लगाता है और धीरे धीरे विपरीति परस्थितियों पर विजयी होकर एक ऐसे देश में पहुँचता है जहाँ के निवासी यह कहते हैं—

हम ऐसे देश के बासी हैं, जहां शोक नहीं और आह नहीं।
जहाँ मोह नहीं और ममता नहीं,
दिन रात नहीं सनमाह नहीं।
वहाँ रूप नहीं और नाम नहीं,
कोई ख़ास नहीं, कोई आम नहीं।
कोई आक़ा और गुलाम नहीं,
रिआया और शाहन्शाह नहीं॥

गम्भीरतापूर्वक देखने पर पता चलता है कि हम कर्म ही तब करते हैं जब कि किसी अभीष्ट की सिद्धि का प्रश्न हमारे सामने रहता है। हमारा अभीष्ट हमारे उस वस्तु के साथ प्रेम की मात्रा के साथ बनता है। यह बात बड़ी सूक्ष्म है। अधिकांश ऐसा नहीं होता। हमारे जीवन में स्वार्थ ने इस हद तक घर कर लिया है कि हम प्रेमा-लाप करते हुए स्वार्थ सिद्धी में जुटे हैं। हमारी प्रत्येक क्रिया के तीन स्तर होते हैं। पहला तो साधारण है जिसमें क्रिया के फलस्वरूप किसी प्रकार के बन्धन का प्रश्न उठ सकता है। दूसरा स्तर भावना का है। इसका क्षेत्र विशाल है। यहाँ पर पहुँच कर उसे सुख दुख की अनुभूति होती है। और यह आवश्यक नहीं है कि मनुष्य बहुत कुछ क्रिया

करता दिखाई दे अथवा कुछ भी न करता दिखाई दे। भावना का एक ऐसा सुन्दर यंत्र भगवान ने हमें दिया है कि हम चाहें तो उसे प्राप्त कर लें और चाहें तों माया को पकड़ लें।

"यह जन्म तुझे अनमोल मिला,
जो चाहे तू इससे कमा बाबा।
चाहे दीन कमा चाहे दुनियाँ कमा,
चाहै दोनो को दे तू गंवा बाबा।।"

जब कोई दोनों को खोता हुआ देखा जाता है तो सन्त कहते हैं अच्छा भाई बीच का मार्ग अपना लें और नीचे की पंक्ति को इस प्रकार बदल लें—

"कुछ दीन कमा कुछ दुनियाँ कमा
कुछ हरि के हेतु लगा बाबा।"

ऐसा प्राय: होता ही है कि हमारी भावना कहीं और है और हम कर्म कहीं और कर रहे हैं और कर भी कुछ और रहे हैं। लोग तीस वर्ष अथवा पचीस वर्ष किसी दफ्तर में किसी स्वामी के संरक्षण में सेवा कार्य करते हैं परन्तु नौकरी से अवकाश प्राप्त होने पर फिर वह उस दफ्तर अथवा उस साहेब के प्रति कितना प्रेम रखते हैं? यह तो नित्य की बात देखने में आती है। उनका मन अटकता वहीं है जहाँ उनकी भावना बन गई है। यह भावना हमारे बड़े काम की है। दीप देहरी न्याय से हम भावना को

"सीय राम मय सब जग जानी।"

का रूप देकर चाहें तो प्रत्यक्ष कार्य करें और चाहें तो एकान्त बैठ कर इस भावना को अन्त तक पहुँचा कर उस भगवान को जो हमारे सामने आ नहीं रहा है, कहाँ तक कहें मनु महराज की नाईं पुत्र बना लें।

इसी भावना के सहारे गीता दो प्रकार के प्रेमियों का संकेत करती

है। एक तो वह जो अपनी भावना को तुच्छ पदार्थों से ऊँचा उठा कर उस प्रभू में लगाकर जनता जनार्दन की सेवा में तनमय हो रहे हैं। संसार की कोई वस्तु उनका मार्ग नहीं रोक सकती। वह जितने कर्म करते हैं उनका सारा श्रेय और फल भगवद्र्पण हो जाता है। उनकी निन्दा करने वाले पाप के भागीदार होते हैं। दूसरे वह हैं जो यह कहते हैं कि—

मन मस्त हुआ तो क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायो,
बार बार उसे क्यों खोले।
हँसा पायो मान सरोवर,
ताल तलइया क्यों डोले।

कहीं एकान्त में गुफ़ा ढूँढ़ लेते हैं और वहीं से संकल्प की दृढ़ता से मानव के कल्याण की लहरें समाज में प्रसारित करते रहते हैं। अर्जुन के पूछने पर कि दोनों में कौन से प्रेमी श्रेष्ठ हैं। भगवान कहते हैं कि यदि माँ के दो पुत्र हैं तो उसे दोनों प्रिय हैं वह किसी को भी अपने पास से प्रथक नहीं कर सकती।

प्रत्येक प्राणी को ईश्वर और दुयियाँ उसकी भावना के अनुसार भासते हैं—

दुनिया धोखे की टट्टी है,
यॉं जो दीखत सो मट्टी है।
खोटा खरा यॉं परखा जावे,
यह परखन की बट्टी है॥
ज्ञानी को च्यूँटी सम भासत,
मूरख को हट्टी कट्टी है॥
बाल बोध सिलेट है दुनियाँ,
और लिखने की पटीट् है॥

पहले मीठी मद्द सलोनी,
अन्त में यारो खट्टी है।
सदा चहो जो सूफ़ी रहना,
बचो यह मद की भट्टी है।।
"शाहन्शाह" को नाच दिखाने वाने वाली नट्टी है।

अत: दु:ख सुख आदि द्वन्द अपनी भावना पर आधारित हैं। प्रेम की अन्तिम अवस्था वह होती है जहाँ प्रेमी को प्रेम के लिये किसी व्यक्ति अथवा वस्तु की आवश्यकता नहीं होती। और जब तक उसका प्रेम इनकी मर्य्यादाओं से वाधित हैं, वह केवल प्रेम का आस्वादन नहीं कर पा रहा है। क्योंकि ऐसा हो सकता है कि वस्तु के बदलने से हमारी भावना बदल जाए अथवा न भी बदले। उदाहरण के लिये यदि कोई व्यक्ति अपना मकान बेच डाले तो उसकी भावना उस मकान से हटकर उस धन पर आ जाएगी जो उसे उस मकान के बदले में मिला है। इसी क्रमानुसार सूक्ष्म विचार में प्रवेश करने पर पता लगेगा कि संसार अलग है और भावना अलग है। अब यदि हम जीवन में प्रेम चाहते हैं तो इस भावना पर बहुत ध्यान दें।

भावना का एक परम मित्र है। वह है श्रद्धा। गीता की भाषा में यह तीन प्रकार की होती है। सात्विक, राजस और तामस। भावना जब तमोगुण के सहारे प्रेम को पकड़ती है तो प्राणी यह जान ही नहीं पाता कि वह भिन्न २ वस्तुओं को अपनाए है वह ऐसा क्यों किये हुए है। वह आनन्द लेता है परन्तु किंचित उन वस्तुओं को देखिये जिन पर उसका आनन्द अवलम्बित। है उसे आनन्द आता, है मादक वस्तुओं में भद्दे गानों में, अश्लील चलचित्रों आदि में। वह इतना स्वार्थ परायण होता है कि उसका अपना मनोनीत संसार जो कि प्राय: बहुत छोटा होता है उसकी सुखानुभूति का केन्द्र होता है। और जब उसके ऊपर कोई आपत्ति आती है तो

वह भक्ति माँ को ठगता है। रोता है गिड़गिड़ाता है और तमोगुणी श्रद्धा के आधार पर ही उस प्रभू को भूत, बैताल के रूप में पूजता है। कभी शमसान की राख उठा लाता है तो कभी कपाल में चावल बनाने की सोचता है। ऐसे प्राणियों का एक अपने ढङ्ग का जीवन होता है। धीरे २ ऐसी उपासना करने से उसका हृदय कोमलता खो बैठता है और कठोर हो जाता है। किसी को घात पहुँचाने में हिंसा करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाता है।

भगवान तो बड़े दयालू हैं। ऐसे जीव भी तो उन्हीं की सन्तान हैं। उनके कल्याण के लिये भी उन्होंने ऋषियों सन्तों द्वारा उपाय लिखवाए। रोचक कथाओं के रूप में सुन्दर सिद्धान्त इस प्रकार के जीवों के लिये लिखे गए जिससे उनके मस्तिष्क पर प्रभाव पड़े और भगवत् प्राप्ति की सरलता पर विचार करके वह अपनी भावना के स्तर को ऊँचा उठाएँ। प्रायः लोग दुख में घबड़ाते हैं। दुख झेलना तो दूर रहा। उस शब्द को मुख से निकालना भी नहीं चाहते। परन्तु यह दुख साधक के लिये बड़े काम की वस्तु है। दुख से संसार में कोई बचा नहीं। यह तो कर्मानुसार मिलते ही रहते हैं। तमोगुण आच्छादित मनुष्य में दुख सहने की शक्ति प्रायः कम होती है। वह त्रयताप से तप्त हो उठता है और चाहता है कोई कल्याण का मार्ग, कोई सुख का साधन। बस उसी समय रोचक उपदेश यदि उसे अच्छे शब्दों में किसी प्रतिभाशाली आत्मा से मिल जाए तो उसका कल्याण हो जाता है। रत्नाकर डाकू से वालमीक ऋषि हो गए हैं।

मानव को इस प्रकार की चेतावनी मिलने पर फिर वह एक पग आगे बढ़ता है। वह सोचता है कि वास्तव में उसका पहला जीवन अच्छा नहीं था। उसे आलस्य में पड़े रहकर समय को व्यर्थ नहीं खोना चाहिये। अतः वह कर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इस अवसर पर उसे पहले से भी अधिक सावधानी तथा अच्छे पथ प्रदर्शक की आवश्यकता होती है। अब वह रजोगुण में प्रवेश करता है। वह

सोचता है कि कुछ ऐसा उपाय करना चाहिये जिससे नाम भी हो और काम भी बने। सर्व प्रथम तो वह अपने ही परिवार को अति सुखी रखना चाहता है। उसके सामने जब किसी कार्य का प्रश्न आता है तो वह उसमें निहित लाभालाभ को पहले सोच लेता है। एक बात यह भी है कि जब तक वह तमोगुण में था वह कोई महान कार्य नहीं कर सकता था। भारतवर्ष में ही नहीं वरन् विश्व में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ कि किसी तमोगुणी व्यक्ति ने कोई सराहनीय कार्य किया हो। यह बात दूसरी है कि उसने मारकाट लूट फूंक से समाज में आतंक मचा कर पास पड़ोस में ख्याति प्राप्त कर ली हो परन्तु उससे क्या लाभ ? और जब वह रजोगुण में आता है तो उसे चाव होता है कि बड़ी-बड़ी सभा सोसाइटियों का नेतृत्व करे। उससे यदि कोई पूंछे कि भाई अब तुम्हें बड़ी सूझी है, तो कहेगा मुझे समाज से प्रेम है सब अपने ही भाई तो हैं उनकी सेवा ही जनार्दन की सेवा है। वह बड़े-बड़े चुनाव लड़ता है पद प्राप्त होने पर अथवा धन प्राप्त होने पर कुआँ, बाग, फुलवाड़ी, धर्मशाला, पाठशाला, औषधालय, वाचनालय, मन्दिर आदि बनवाता है परन्तु उसके अन्तस्थल में एक छिपी भावना रहती है। जिसके सहारे वह अपनी प्रशंसा चाहता है। इसी के वशीभूत हो कर वह अपने तथा अपने परिवार के किसी प्रेमी के नाम का पत्थर लगवाता है। यह कार्य सब बहुत अच्छे हैं। मनुष्य को पुण्य मिलता है। वह श्री मान् हो जाता है। गीता के अनुसार इस लोक में सुख भोग कर अच्छे-अच्छे सुख उन कर्मों के पुण्यों के प्रताप से स्वर्ग में भोगता है। और फिर जब लौटता है तो योग भ्रष्ट, अच्छे साधन युक्त महात्माओं और भक्तों के परिवार में जन्म लेकर पुन: अच्छे नवीन कर्म करता हुआ आगे बढ़ कर सतोगुण में एक न एक दिन अवश्य पहुँच जाता है। तब उसे बहुत से कर्म अच्छे नहीं लगते। वह कर्मों से घृणा तो नहीं करता। परन्तु बहुत से कर्मों के फल को पहले से

ही देख कर उन्हें आदि से ही त्याग देता है। धीरे धीरे कर्म करते हुए उसे यह सूझ उत्पन्न हो जाती है कि "ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः" परन्तु कर्म तो कुछ करने ही हैं। अतः वह "सर्व भूतहिते रताः" को जीवन में उतारता है और मन बचन कर्म से मानव मात्र को सुखी करता है। ऐसे व्यक्ति के संसार में मित्र कम होते हैं उलटे शत्रु आलोचना करने वाले, उसे पागल समझकर उसकी अवहेलना करने वाले अधिक हो जाते हैं। परन्तु वह उनसे भी प्रेम करता है क्योंकि उसके प्रीतम उनमें रहते हैं।

इस प्रकार से मानव आगे बढ़ता हुआ जीवन की एक और पृष्टभूमि पर पहुँचता है। वहाँ पर ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, द्रष्ठा, दर्शन, दृष्य के समान प्रेमी, प्रेम, और प्रेमास्पद एक तल पर आ जाते हैं। वहाँ पर सहज सुख का साम्राज्य है। आत्मा की सहानुभूति होती है। यहाँ पर पहुँच कर उसका चित्त अत्यंत शुद्ध हो जाता है। वहाँ पहुँच कर संत कबीर बोल उठे।

मनवां तो निर्मल भया, जैसे गंगा नीर।
पाछे पाछे हरि फिरैं, कहत कबीर कबीर॥

इसी मस्ती में वह अपनी दिनचर्य्या बताते हुए मस्त प्रेमी के जीवन पर प्रकाश डालते हैं:—

साधो सहज समाधि भली,
गुरू किरपा ते जा दिन जागी, निशि दिन बढ़त चली।
जँह २ डोलूँ सोई परिक्रमा, जो कुछ करूँ सो सेवा॥
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत, पूजौं और न देवा।
कहों सो नाम, सुनौं सोई सुमिरन, खाऊँ पियूँ सोई पूजा।
गृह उजाड़ सब एक सम लेखौ, भाव मिटाऊँ दूजा॥
आँख न मून्दौं कान न रूधौं तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं सि हं २, सुन्दर रूप निहारौं॥
शब्द निन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी।

उठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी ताली लागी ॥
कह कबीर यह उन मनि रहनी, सो परगट कर गाई ।
दु:ख सुख से कोई परे परम पद तामें रहा समाई ॥

ऐसे प्राणियों की पुकार है संसारियों से—

आओ ! प्रेम नगरिया बसाएँ ।
भाव की बाती चित्त का दीपक, सत् घृत ज्योति जगाएँ ।
हित अनहित सब मिलकर सोचें, भेदकी भीत को ढाएँ ॥
अन्त:करण की शुद्ध भूमि पर, प्रेम का बिरवा लगाएँ ॥
माया के सब तान तँबूरे, ब्रह्म के स्वर से मिलाएँ ॥
'रंक' शहन्शाह और नर नारी, सोया प्रेम जगाएँ ॥

परन्तु संसारी मनुष्य इस पुकार को सुनते हैं। उनके अन्दर चाव होता है कि दौड़कर इन प्रेमियों से मिलें इन से परिचय भी प्राप्त करते हैं। घुल मिल कर बातें भी करते हैं परन्तु वह मस्ती जीवन में नहीं उतरती जो उन प्रेमियों के जीवन में है। उनकी मुखाकृति देखकर प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसका भी एक कारण है। वह है हमारे अन्दर त्याग की कमी। हम चाहते सब कुछ हैं परन्तु डरते इस बात से हैं कि हमारा सब कुछ छिनेगा तब काम चलेगा। अत: वह उन सब पदार्थों को जिन्हें उन्होंने सुख का आधार मान रखा है छोड़ना नहीं चाहते। तो क्या भगवान् वह प्रेम देंगे? नहीं देगें। और वह सब कुछ देने को कहेंगे परन्तु वह प्रेम कदाचित् तब ही देगें जब हमें भी विष अमृत, अग्नि शीतल विषधर सर्प माला के समान जान पड़े।

प्रेम पियाला सोपिये, जो शीष दक्षिणा देए।
लोभी शीष न दे सकै, नाम प्रेम का लेय ॥

अच्छे आदर्श प्रेमी का निवास स्थान बड़ा पुनीत होता है। उनके घर निराकार होते हैं। यदि हम लोगों के पास वैसा घर न

हो तो एक उस प्रकार का अवश्य बनाना चाहिये जिसकी व्याख्या महात्मा करते हैं।

प्रेम कुटी करो बासा । साधो
ज्ञान की छत और ध्यान की खिड़की,
नीव रखो विश्वासा साधो

महात्मा का संकेत है कि जिस कुटी की नीव विश्वास पर होगी वह ही परस्थितियों के भूकम्प से बच सकेगी । महाकवि तुलसी कहते हैं कि—

"कउनिहु सिद्धि कि बिनु विश्वासा ?"

विश्वास उस ईश्वर की एक महान देन है। मानव का ही नहीं वरन् समस्त प्राणियों का जीवन बिना विश्वास के एक क्षण भी नहीं चलता। जिन साधारण क्रियाओं को हम बिना सोचे करते हैं उनके अन्दर हमें जन्म से विश्वास है जैसे सांस लेना। इसके अभाव में भले ही सब काम होते रहें परन्तु वह किस प्रकार के होंगे ? उनका फल क्या होगा ? इसके लिये और प्रमाणों की क्या आवश्यकता। हम स्वयम् देख लें। हम सब बहुत से काम स्वार्थ वश, दबाव में पड़कर, धौंस से, अथवा नाना प्रकार के अनेक कारणों से करते हैं और उनके परिणाम में चिड़चिड़ाहट, निन्दा, परेशानी, मनोमालिन्य आदि २ प्राप्त करके अशान्त रहते हैं। अविश्वस्त्र क्षेत्र में किया हुआ कोई भी काम महान् परिश्रम के पश्चात किञ्चत फल देकर अशान्ति बहुत पैदा करता है।

विश्वास और श्रद्धा का इतना अटूट संबन्ध है कि महा कवि उन्हें शिव पारवती के रूप में देखते हैं। यह श्रद्धा और विश्वास दोनों हमारे माता पिता के रूप में प्रविष्ट होकर हमारे जन्म के हेतु बनते हैं। आजकल हमारे संकल्प और विशेषतय: धार्मिक संकल्प पूरे नहीं होते। साधन बहुत जुटाने पर भी पर्याप्त सफलता नहीं मिलती उसका कारण है हमारे अन्दर श्रद्धा विश्वास की कमी।

और जो भी त्रुटियाँ उसमें हो जाँए वह तो अलग रहीं परन्तु यह सब से बड़ी त्रुटि ठहरेगी । ईश्वरी सत्ता पर पूर्णरूपेण विश्वास हो जाना आसान नहीं है। (और एक प्रकार से आसान भी है। हममें बालकवत् सरलता आ जाए तो काम जल्दी बन सकता है) जिस दिन से हम ऐसा विश्वास अपने में जमा पाएँगे उसी दिन से क्या फिर हमसे कोई पाप बन सकेगा । जब एक साधारण अफ़सर के सामने हम कोई बुरा काम करते हुए डरते हैं तो फिर उस परमपिता से कहाँ छिपकर कोई काम कर सकेंगे । हमारी स्वार्थ दृष्टि अथवा भेद दृष्टि नष्ट हो जाएगी । यह एक सतत विचारणीय वस्तु है। सत्य बात तो यह है कि हम प्रेम का जो अनिर्वचनीय स्वरूप है समझ सकेंगे इसके पहले प्रेम क्या है? इसकी ऊँची से ऊँची व्याख्या करलें, बड़े बड़े व्याख्यान प्रेम पर उड़ा दें परन्तु उस रस का आस्वादन न हो सकेगा जो ब्रज की गोपिकाओं तथा श्री मीरा जी आदि को प्राप्त हुआ था। उस समय तक जब तक कि वह दशा हमें प्राप्त न हो, उसकी प्रतीक्षा करें। साधन करें। उसका आवाहन करें, पूजन अर्चन करें, कदाचित् वह अवस्था प्राप्त ही हो जाए। हमारी सर्वप्रथम चेष्टा तो यह होनी चाहिये कि उस भगवान के प्रतीक प्रेम रूप अमृत को स्वर्ण के पात्र में रखें। यह पात्र स्थित प्रज्ञ हृदय है। उस घट में रखा हुआ प्रेम हमें महाराज जनक, महाराज हरिश्चन्द्र अथवा रन्तिदेव के दर्शन जनता में कराएगा । यदि वहाँ तक हम न पहुँच पाते हों तो सतोगुणरूपी रजत के पात्र में उसे धारण करें ।

यदि यह भी सुलभ न हो तो रजोगुण के तांबे के पात्र में ही प्रेम रस को धारण करें उससे भी अपना तथा समाज का कल्याण होगा। परन्तु इससे नीचे उतर कर तमोगुण के लौहपात्र में उस पुनीत अमृत को रखना उचित नहीं है। उससे पतन होगा।

प्रेम तो ईश्वरवत् व्याप्त है। हमारे अन्दर गुण चाहे जो

भी वर्त रहा हो यह प्रेम उसी में टिकेगा हमें चाहिये कि हम चाहे जिस गुण में भी वर्तते हों उससे सावधान होकर उच्च गुण की ओर बढ़ें फिर देखें प्रेमकी करामात। ईश्वर ने मनुष्य को ही इस योग्य बनाया है कि वह इन गुणों से ऊपर उठ जाए । शेष योनियों में अधिकांश तमोगुण का ही साम्राज्य रहता है। किसी विशेष पशु अथवा पक्षी में यदि उत्थान का कोई लक्षण जान पड़े तो वह उसके पूर्व संस्कारों का ही फल समझना चाहिये।

प्रेम कुटी के अन्दर काम क्रोधादि पशु न घुसे इस कारण से कवि कहते हैं—

शील सनेह की बाढ़ लगा कर,
काम क्रोध करो दासा........साधो

इन्हीं भावों को दूसरे शब्दों में देखिये—

शौरज धीरज जेहि रथ चाका।
सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे।
क्षमा दया समता रजु जोरे॥

अतः यदि सत्य हो और शील न हो तो उस सत्य से अहिंसा व्रत न पालन हो सकेगा। कटु सत्य को आदर नहीं मिलता और न वह अच्छा ही लगता है। मां को बाप की स्त्री कहना सत्य तो है परन्तु समाज इस प्रकार की शब्दावली को आदर नहीं देता। इससे चित्त में विक्षेप उपजता है और द्रोह बढ़ सकता है।

अतः सत्य बोलने के पहले—

"सत्यं प्रिय हितम् वयत्"

का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। तब ही वह सत्य, "सत्यम शिवम् सुन्दरम्" का पद भी प्राप्त कर लेगा।

महात्मा काम क्रोध आदि को दास बनाकर अपने वश में रखने की बात कहते हैं। अन्य संत कवियों का भी यही भाव है। ऐसा कर

लेने से हम उन्हें अपनी इच्छानुसार उनसे कार्य ले सकेंगे। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर यह जान पड़ेगा कि ईश्वर कृत कोई भी वस्तु बेकार नहीं बनी है। कुछ न कुछ लाभ उससे अवश्य है। तुलसी बाबा ने भी काम क्रोध, लोभ आदि को अनेक प्रकार के रूपकों में तुलना करते हुए दो पदों में बड़े सुन्दर ढंग से एक बात बताई है—

बुझै कि काम अगिन तुलसी कहुँ,
विषय भोग बहु घीते।

अथवा

काम भुजंग डसत जब जाही,
विषय निम्ब कटु लगत न ताही।

घी पौष्टिक पदार्थ है परन्तु यदि मात्रा से अधिक ले लिया जाए तो बड़ी हानि पहुँचाएगा। परन्तु जितना पच सके यदि उतना ही लिया जाए तो लाभदायक होगा शरीर में बल बढ़ाएगा। इसी प्रकार किसी सन्त की अथवा ग्रन्थ की आज्ञानुसार विषयों की मात्रा हानिकर न होगी। नीम कड़ुआ होता है परन्तु वैद्यक विधान से शोधा. नीम लाभप्रद होता है।

मन बड़ी सूक्ष्म इन्द्री है। भगवान ने यह इन्द्री बड़े काम की बनाई है। जिस प्रकार से भजन करते समय मन इधर उधर की बातों का चिन्तन किया करता है क्योंकि जन्म जन्मान्तरों से उसे ऐसा अभ्यास है इसी प्रकार यदि उसका अभ्यास भगवच्चिन्तन, भगवन्नाम, आदि में लग जाए तो यह भी सम्भव है कि सांसारिक कार्य करते हुए मन ईश्वर चिन्तन करता रहे। इस दशा में उसका समस्त व्यवहार भगवत् सेवा हो जाएगा और प्रेम की चरम सीमा पर पहुँच कर सदेह मुक्त हो जायगा।

शरीर को बलवान् नबाने के लिये स्पष्ट है कि पौष्टिक पदार्थ सेवन

कीजियें और व्यायाम भी कीजिये। परन्तु मन को शुभ बनाने के लिये उसकी इच्छाओं को न मानिये और यदि फिर भी न माने तो इन्द्रियों को विषय का संजोग ही न होने दीजिये। भाई यह कहना तो सरल है परन्तु व्यवहार में लोहे के चने चबाने से कम नहीं है। महात्मा कहते हैं—

रेमन काहे सोच करो।
जाको तू सोचत है मूरख, वा तो आप मरो।
जेहि कारण तुम जन्म लियो है, वाको सोच करो॥
इक काँटे से दूजा निकालो, फिर तुम दोनों तजो।
अतः

मन को मारे दाँव से,करै सकल व्यवहार।
पहले प्रीति बढ़ाय के,पीछे देवे मार॥

शरीर के लिये काम क्रोध दोनों काँटे हैं। अतः काम को क्रोध से (उपेक्षा वृत्ति से) और क्रोध को काम से (स्नेह वृत्ति से) वश में करने का उपाय करना चाहिये।

जीवन का अध्ययन करने पर पता चलेगा कि यहाँ की सारी भीतियाँ ढह जाने वाली हैं। क्योंकि उनकी नींव देश काल से बाधित है।

एक वैज्ञानिक समझता है कि किसी वस्तु का सूक्ष्म रूप अणु तथा परमाणु है। विज्ञान ने इसके भी खण्ड कर दिये हैं। और अब यह स्पष्ट हो गया है कि इन परमाणुओं से भी सूक्ष्म तर स्तर में इलक्ट्रांस तथा प्रोटॉंस हैं। इन परमाणुओं के अन्दर यह वस्तुएँ सतत सौर्यमण्डल के तारों की भाँति घूमती रहती है। वह एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं होती। अपने मन को समझाने के लिये यदि संसार की समस्त वस्तुओं के अन्तर में हम उसी परमाणुओं के पुंजों का दर्शन करें तो एक महान् आश्चर्य होगा।

यहाँ की सारी वस्तुएँ जिन की नींव में भ्रमण है कदापि स्थिर नहीं हैं। तो फिर भला इन पर टिका हुआ मन और उसके सहारे इन्द्रियाँ कैसे स्थिर हो सकती हैं। अतः मन को स्थिर करने के लिये हम उसकी ओर झुकें जो उन इलेक्ट्रांस में भ्रमण की शक्ति देता है और फिर उनका नियंत्रण भी करता है। ऐसा करनें से हमें उस सत्य को बोध होने में बड़ी सफलता मिलेगी।

इस नश्वर जगत में केवल वह ही वस्तुएँ स्थिर रहेंगी जिनकी आधार शिला सत्य पर है। श्री दशरथ जी महराज का यश आज भी इसी कारण से गाया जाता है कि उन्होंने राम जैसे पुत्र को बन पथ पर भेज कर सत्य की रक्षा की और प्राण त्याग दिया। सत्य को किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। यदि अनावश्यक सत्य हम बोलेंगे तो उससे लाभ के स्थान पर हानि होने की सम्भावना है।

जीवन में यदि लौकिक तथा पारलौकिक जयश्री चाहिये तो सत्य प्रेम का आश्रय लेना होगा तब मिथ्या मोह हमारा साथ छोड़ देगा। परन्तु यह याद रहे कि फिर हमें महान् से महान् त्याग के लिए तैयार रहना चाहिये। सावधान!

ना कोई प्रेम का रोग लगाए,
पापी अङ्ग २ रच जाए ॥
प्रेमी के इस भोलेपन पर सब दुनिया मुसकाए।
निज प्रेमी को मन में रख कर, आग से आग बुझाए ॥
गली गली में साजन ढूढ़ें जग से आँख छिपाए।
मन में जी भर मर कर रोये, आंखों से मुसकाए ॥
कामी क्रोधी लम्पटी, इनसे प्रेम न होय।
प्रेम करै कोई सूरमा, जाति वरण कुल खोय ॥

व्यवहार में उतर कर लोग कह बैठते हैं कि भाई सत्य और प्रेम दोनों एक साथ नहीं निभ सकते। जिससे हम प्रेम करेंगे उसके

सामने यदि उससे कोई भूल हो गई है तो अक्षरस: सत्य कैसे कह सकेंगे। (क्योंकि उसमें प्रेम की कमी हो सकती है) जो लोग इस प्रकार विचार करते हैं। कदाचित सत्य और प्रेम के अभिन्न सम्बन्ध का नहीं समझ पाते। वस्तुत: दोनों ही उस एक परमात्मा के ही स्वरूप हैं। इनका ऐक्य तो भाई समझ में तब ही आ सकेगा जब भगवान समझ में आ जाएँगे। इसका भाव यह नहीं है कि वह केवल काल्पनिक जगत में ही भ्रमण करने के समान है। उसको जाननेवाले गूंगे के गुड़ के समान उस रस का आस्वादन करके मुस्कराते हैं और सिर हिलाते हैं। जब तक जीते हैं सत्य प्रेम के रसमय बन्धन से बन्धे रहते हैं और अन्त समय में श्री दशरथ जी महाराज की नाईं दोनों की रक्षा में, सत्य निभाने के लिये राम को, और प्रेम निभाने के लिए शरीर को सहज में ही त्याग देते हैं। राम ने भरत से उनकी इन बातों को संकेत करते हुए उनकी महानता का वर्णन किया—

राखेहु राउ सत्य मोहि त्यागी।
तनु परिहरेउ प्रेम पन लागी॥

धीरे धीरे हमें समाज में सत्य प्रेम को सर्वत्र ओत प्रोत जान कर उनके भावों को बढ़ाते रहना चाहिये जिससे कि यह दोनों नर नारायण के सदृश्य हम सब का कल्याण करने में पूर्णरूपेण समर्थ हो सकें।

श्रद्धांजलियाँ

सन्तों के जीवन की मस्ती उनकी अपनी देन है। वह उस मस्ती को कब और कैसे प्राप्त कर लेते हैं यह तो भाई वह ही जानें। या जो सन्त बन गया है वह जान सकता है। साधारण व्यक्ति साधन पथ पर चलकर जब सूक्ष्म स्तरों में विचरण करता है तब उसकी दशा भी साधारण नहीं रहती। अभ्यास करते करते जब साधक इन्द्रिय, प्राण और मन को अपने वश में करके अपना चित्त उस परमात्मा में लीन कर देता है और परमात्मा की धारणा करने लगता है तब उसके सामने बहुत सी सिद्धियाँ आकर उपस्थित होती हैं। साधना की यह दशा बड़ी सूक्ष्म होती है। यदि साधक सावधान न रहे तो साधन से गिर जाता है। उसका प्रधान कारण यह है कि ऐसे प्राणियों को संसारी घेरने लगते हैं और वह उनके चक्कर में पड़कर जहाँ आपानुग्रह के फेर में पड़ा कि अहंकार ने कृपा की। उस समय वह समझने लगता है कि वह एक बहुत उच्च कोटि का महात्मा है। दुनियाँ उसे पूजने लगती है। और इस प्रकार उसकी उन्नति रुक जाती है।

अच्छे साधक इन ऋद्धि सिद्धियों के फेर में नहीं पड़ते। वास्तव में वह इनकी ओर देखते भी नहीं हैं। परन्तु हाँ ! यदि कहीं कोई विशेष आवश्यकता ही पड़ जाए तो उसका प्रयोग भी कर लेते हैं। उससे उनकी कोई हानि नहीं होती। देश के सन्तों ने ऐसे चमत्कार समय समय पर दिखाए हैं। जिनका उत्तर सांसारी युक्तियाँ तथा विज्ञान नहीं दे पाता। और वर्तमान समय के पश्चात्य प्रणाली को अपनाए हुए नवयुवकों के गले से तो वह घटनाएँ किसी प्रकार भी नहीं उतरतीं। उदाहरणार्थ श्री मीरा जी का विषपान, धन्नाभगत का बिना बोया उगा हुआ खेत, तथा नरसी मेहता की हुण्डी यह सब घटनाएँ झूठी जान पड़ेंगी। परन्तु उनके सत्य होने के प्रमाण हैं जिनके आधार पर हम उन्हें निर्मूल नहीं कह सकते। ऐसी दशा में

वह लोग चुप हो जाते हैं और यदि कोई उनसे कहे—"नहीं ! आपको अपनी सम्मति देनी ही होगी ?" तो टाल जाते हैं। वास्तव में बात यह है कि यदि ईश्वरी कृत्यों में भी क्यों, कैसे, अगर, मगर, हालांकि, इसलिये आदि २ प्रश्न लगा सकें तो फिर वह ईश्वरी महत्ता से गिर जाएँगें।

जो समझ में आ गया, फिर वह ख़ुदा क्योंकर हुआ।
जो ज़हेन में घिर गया, लाइन्तहा क्योंकर हुआ ॥

ऐसे कृत्य ही भगवत्‌गाथा बन जाते हैं और भावुक भगतों की अपनी निधि होते हैं। उनको गा गा कर उनका स्मरण करके यह भक्त भवसागर पार हो जाते हैं। और अश्रद्धालु तार्किक अपने मस्तिष्क में अनेकों प्रकार की शंकाओं सहित दिन रात विचार किया करते हैं और उन अलौकिक बातों पर तर्क आरोपित करते रहते हैं और अन्त में उन्हें छोड़ देते हैं। इसमें उनकी अपनी ही हानि है। ईश्वरी कृत्यों में जो लाभ है वह बहुत देर में जान मिलता है। एक स्त्री के विषय में अभी थोड़े समय की यह सत्य घटना है कि वह क्षय रोग से पीड़ित थी उसके घर वालों ने संक्रामक रोग समझकर त्याग दिया और एक सम्बन्धी ने श्री अवध में सरजू के समीप के किसी भोजनालय में उसके भोजन के दाम रख दिए और उस स्त्री को एक प्रकार से मरने के लिये वहाँ छोड़ दिया। वह घाट पर पड़ी रहती। जब बहुत घबड़ाती तो सरयू में प्रवेश करती कि मर जाऊँ किन्तु यह काम भी सरल नहीं है। जब कभी क्षुधा से पीड़ित होती तो भोजन भवन से भोजन ले लेती। कुछ कहा नहीं जाता उसके इस कृत्य को हम क्या कहें, किसी औषधालय का शुद्ध उपचार तो कह नहीं सकते परन्तु प्रभू की कृपा से वह कुछ महीनों के पश्चात स्वत: स्वस्थ हो गई और उसका पति उसे लिवा ले गया। यह घटना श्रद्धालुओं के हृदय में भगवत् प्रेम तथा भगवत् कृपा का भाव बढ़ाएगी और

तार्किक इसे केवल एक घटना कहकर सन्तोष प्राप्त कर लेगा कि इसमें भगवत कृपा का क्या स्थान है ? उसे जलवायु ने स्वस्थ कर दिया । ख़ैर इसमें अधिक तर्क में तो उतरना नहीं है बात यह है कि भगवान को तथा सन्तों की अलौकिक क्रियाओं में तर्क तथा दलीलें कभी २ नहीं भी लगती । और भाई सच तो यह है कि हमें आम खाने चाहिये पेड़ गिनने से क्या लाभ । सन्तों के अलौकिक कृत्यों से हममें निरअभिमानता आती है और निष्काम कर्म करने का सन्देश मिलता है । इस नाते से उन्हें अपनाना चाहिये ।

श्री शाहन्शाह जी महाराज के जीवन में भी एसी अनेकों घटनाएँ मिलती हैं जिनको हम आधुनिक ढ़ंग की कसौटी पर, तर्क की शान पर रख कर फल नहीं प्राप्त कर सकते और चुप हो जाते हैं । उनके इन दिव्य कृत्यों पर विचार करने पर पता चलता है कि उन्हें अणिमा, गरिमा, लघिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त थीं । वैसे तो बहुत से भक्तों को एसा सौभाग्य मिला जिससे वह उन्हें अवतारी पुरुष कह सके परन्तु यहाँ विस्तारभय से हम केवल दो चार घटनाएँ ही देकर संतोष करेंगे ।

जब स्वामी जी बहुत छोटे थे । धीरे धीरे चलने लगे थे । उस समय एक बार वह चौके में चले गए और अग्नि खण्ड करकमलों से उठा लिया । माँ ने तुरन्त देख लिया और बड़े उच्च शब्द से बोली, "फेंक दे इसको ।"

उन्होंने तुरन्त फेंक दिया । माँ ने दौड़ कर उनका हाथ देखा परन्तु उसमें किसी प्रकार का कोई जले का चिन्ह नहीं था । और न कष्ट ही था, और लोग भी वहाँ दौड़ आए परन्तु बालक को कुछ पता भी न चला कि क्या हुआ ।

स्वामी जी के जीवन में दो मुख्य बातें मिलती हैं । एक सत्य

प्रेम के प्रसार के साथ धार्मिक स्तर से गिरती हुई भोली भाली जनता को उत्थान की ओर ले जाना और दूसरी आजीवन ब्रह्मचर्य ब्रत के लिये परिस्थितियों से संघर्ष करना। इस संघर्ष में माया के दर्शन, उसके द्वारा दिया गया प्रलोभन और उसमें ईश्वरी शक्ति का बरदान के रूप में आश्वासन, यह सब घटनाएँ उनके जीवन की अलौकिकता का परिचय देती हैं।

(१)

एक बार एक भक्त ने बताया कि वह टुण्डले में थे। उन्हीं दिनों में दैवात स्वामी जी वहाँ पहुंच गए। भक्तों का उत्साह बहुत बढ़ गया। भजन भोजन दोनों ने ज़ोर पकड़ा एक दिन की बात है कि मध्याह्न में भोजन के पश्चात स्वामी जी एक कमरे में शयन कर रहे थे। आकसमात यह शंका हुई कि कहीं स्वामी जी बाहर द्वार खोलकर चले न जाँए। अत: बाहर के द्वार में ताला डाल दिया गया और अन्दर के द्वार पर तो सब लोग थे ही। थोड़ी देर के पश्चात इस अभिप्राय से कि कदाचित स्वामी जी को जल की आवश्यकता हो एक सज्जन ने अन्दर झांका। उन्होंने देखा कि तख्त पर स्वामी जी नहीं हैं। कमरा बहुत बड़ा तो था नहीं। आन की आन में यह स्पष्ट हो गया कि स्वामी जी उसमें नहीं हैं। सहसा वह बोला —

"अरे ! देखना स्वामी जी चले गए। ऐसा कहते हुए उसने बाहर जाकर द्वार के ताले को देखा वह ठीक वैसा ही लगा हुआ था।"

वह घबड़ा कर बाहर आया और सब लोग इधर उधर स्वामी जी को खोजने लगे। बाहर एक स्कूल के अध्यापक गण स्वामी जी के दर्शनों को आए थे, उन्होंने भी घरवालों से पूछा—

"स्वामी जी कहाँ गए हैं।"

"क्या आप लोगों ने देखा नहीं ?"

"नहीं। हम लोगों ने सुना था कि वह आप ही के यहाँ ठहरे थे।"

वह व्यक्ति जो बाहर ढूढ़ँने निकला था सम्भवत: दो तीन फ़र्लाङ्ग

गया होगा कि उसे यकायक ऐसा जान पड़ा कि स्वामी जी एक दम से उसके आगे प्रगट हो गए। वह चौंक पड़ा। स्वामी जी ने मुस्कराते हुए कहा—"बस! इतने में ही घबड़ा गए! अच्छा यह लो।" ऐसा कहते हुए उन्होंने चार अत्यन्त सुन्दर बड़े बड़े बेर जो उनके हाथ में उस व्यक्ति को दिए। यह भी एक आश्चर्य मय घटना थी। वह समय बेरों का नहीं था। उस समय बेर स्वामी जी के पास कहाँ से आए। इसका भेद खुल न पाया। यह बात जून के महीने में हुई थी।

इस घटना को एक वर्ष बीत गया। हरिद्वार में झङ्ग (पंजाब) निवासी श्री जवाहर सिंह जी मिले। वार्तालाप करते हुए टूण्डले वाले सज्जन ने उनसे पूछा—

"क्या स्वामी जी के बारे में जानते हो कि कहाँ हैं आजकल।"

उसने कहा—"मुझे ज्ञात नहीं है। मुझे तो पिछले वर्ष जून के महीने में महराज जी मिले थे" तब उसने अपनी कहानी बताई कि गर्मियों में महाराज जी के दर्शनों की उत्कण्ठा जाग्रत हो गई। वह इतनी तीव्र हुई कि उन्होंने यह व्रत ले लिया कि जब तक स्वामी जी के दर्शन न होंगे वह अन्न न ग्रहण करेंगे। बिना परीक्षा के संसार में कुछ मिलता नहीं है। उन्हें जब लगभग बाइस दिन इस प्रकार बीते तो उन्नीस जून को श्री स्वामी जी मध्याह्न के समय अकस्मात पधारे। उस व्यक्ति ने चौंक कर कहा—

"क्या! १६ जून को स्वामी जी आपके यहाँ गए थे? वह तो टूण्डले में थे।"

"वाह! यह तुम क्या कहते हो भाई। स्वामी जी तो उस दिन मेरे यहां ही आये थे। उस समय मेरे पास कुछ उनके अभिवादन के लिए भी न था बस चार बेर रखे थे। वही मैंने भेट कर दिये। उन्होंने बेर ले लिए और यह कहते हुए कि 'मैं चलता हूँ' तुरन्त बाहर निकले और थोड़ी दूर चल कर अदृष्ट हो गए।"

"अच्छा! यह महान आश्चर्य है। तब उसने टूण्डले में स्वामी

जी के ठहरने और अकस्मात अदृष्ट होकर पुनः प्रगट होने की बात कह दी।"

यह सुनकर सब लोगों को स्वामी जी के प्रति अधिक श्रद्धा हो गई।

(२)

ठीक इसी प्रकार की एक घटना जब श्री त्रिभवन दयाल जी सब-रजिस्ट्रार (लखनऊ) फ़ैजाबाद में थे घटी। स्वामी जी उनके स्थान पर ठहरे थे। भोजन के समय उनके एक मित्र ने स्वामी जी को देखने के लिए जब कमरे में प्रवेश किया तो कमरा रिक्त पाया। उसने समझा कि स्वामी जी कहीं गए होंगे। थोड़े समय के पश्चात उसने फिर जा कमरे में झांका तो स्वामी जी उसी कमरे में थे। महान आश्चर्य की बात थी। उसने स्वामी जी से घटना बताते हुए पूछ दिया।

"आप किधर से आ गए ?"

"हम क्या कहीं गए थे जो आने का प्रश्न उठा।"

"अभी अभी मैंने कमरे में देखा था तब आप नहीं थे।"

स्वामी जी मुसकराए और बोले,

"हम कभी व्यक्त और कभी अव्यक्त रहते हैं।"

(३)

एक समय भक्तों ने हृषीकेश में स्वामी जी को देखा जङ्गल में आप एक वृक्ष की जड़ के सहारे लेटे मस्ती में बांसुरी बजा रहे थे। उन्हें देखकर कर एक स्त्री ने अपने साथ की स्त्री से कहा—

"बहिन देखो! स्वामी जी कैसे अच्छे लग रहे हैं मानों साक्षात् भगवान् कृष्ण ही फिर से बंसी बजाने आ गए हों।"

"हाँ! पगली कहीं की, क्या यह बंसी भगवान् कृष्ण की बंसी की तुलना में हो सकती है? क्या तुझे याद नहीं कि वह जब बंसी बजाते थे तो वायु रुक जाती थी, सरिता अपना बहाव बंद कर देती थी। पक्षी स्तब्ध हो जाते थे। भला उस बंसी की ध्वनि को कौन कहे

जिसने रात्रि में ब्रज गोपिकाओं को उनके घरों से वन की ओर बलात् घसीट लिया था।"

इस प्रकार की बातें इन दोनों देवियों में हो ही रही थीं कि इतने में ही ऐसा योग जुटा कि दृश्य बदल गया। सामने वृक्ष पर एक तोता तथा अन्य पक्षी आकर चुपचाप बैठ गए। पास में चरती हुई गऊ ने चरना बंद कर दिया। मानों बंसी सुनने में ध्यान मग्न हों! अभी थोड़ी ही समय बीता होगा कि सामने से हिरनों की पंक्ति जो भागी जा रही थी किंचित रूकी। ऐसा अवसर देख कर उस पहली स्त्री ने कही,

"देखो देखो! मैं जैसा कहती थी ठीक कहती थी। देखो सामने कितने पक्षी, पशु आदि शांत भाव से सन्तभगवान् की बंसी सुन रहे हैं। भला बताओ मैं जो कहती थी क्या अशुद्ध कहती थी।"

उस दूसरी स्त्री ने कहा हम तो तब जानें जब हम भी कोई चमत्कार देखें। वह स्त्री चुप हो रही। अभी बहुत देर नहीं हुई थी कि पास से एक विकराल भेड़िया निकल पड़ा। स्त्रियों के मुख से एक चीख़ निकल पड़ी स्वामी जी चौंक पड़े। बंसी रुक गई। तुरन्त खड़े हो गए। मानों भेड़िये से मुठभेड़ करेंगे। वह पशु भी दाढ़ चाटता हुआ सामने आया। किंचित रुका और फिर एक ओर होकर पास की दूसरी झाड़ी में चला गया। स्वामी जी एकटक गम्भीर मुद्रा में उसकी ओर देखते रहे। स्वामी जी की इस शूरता को देखकर एक स्वर से दोनों ने कहा—

भाई यह महापुरुष वास्तव में योगिराज हैं। यह इनके ब्रह्मचर्य्य का ही प्रताप है।

श्री स्वामी जी की गम्भीरता वाक् पटुता सरल शब्दों में गम्भीर प्रश्नों के उत्तर आदि बातें अद्वितीय थीं। मन की कुन्जी में शाहन्शाही संस्मरण के अध्याय में हमें अनेकों प्रमाण मिलते हैं। संतों ने मानव जीवन को गणित के सूत्रों के समान कहीं कहीं व्यक्त किया है।

Man—desires = God

सब जुस्तजूए माल में चर्ख़े की माल हैं,
और मानते हैं ख़ुद को, कि वह मालदार हैं।
ऐहले-सबर 'शाहन्शाह' हैं बाक़ी हैं सब कङ्गाल,
हैं साहिबे अकसीर वह, जो ख़ाकसार हैं॥

संत विनोवा जी के संकेत में सम्पूर्ण जीवन की व्याख्या इस प्रकार है।

(निर्गुण) सांख्य बुद्धि + (सगुण) योग-बुद्धि + (साकार) स्थितप्रज्ञ मिलाकर सम्पूर्ण जीवन शास्त्र बनता है।

(४)

श्री स्वामी सर्वानन्द जी ने बताया कि वह एक दीर्घ समय से श्री स्वामी के सत्सङ्ग में आया करते थे। श्री स्वामी जी को उनके अन्दर कुछ वैराग्य तथा त्याग की झलक जान पड़ी। उन्होंने अनायास एक दिन कहा—

"क्यों क्या सोचते हो ! या इधर हो जाओ या उधर।"

"महाराज जिधर आप कर दें।"

"अच्छा तो तुम इधर आ जाओ।"

"मुझ में इतनी शक्ति नहीं है स्वामी जी, "सर्वानन्दजी ने उत्तर दिया, "आप शक्ति दें तो कदाचित् पार हो सकूँ। मेरी नाव मझधार में है। मैं समझता हूँ कि मुझे माँझी मिल गया।"

स्वामी जी मुसकराए और बोले "अच्छा पतवार संभालो और बल्ली लगती है।"

"जो आज्ञा" ऐसा कह कर सर्वानन्द जी ने घर छोड़ दिया। घर वालों को पहले तो अच्छा नहीं लगा परन्तु फिर भगवत् कृपा से वहाँ का कार्य संभल गया। अब उनके लिये सर्व ओर आनन्द ही आनन्द है ! जीवन मुक्त हो कर शाहन्शाही मस्ती छिटकाते हुए विचरते हैं। अपने भावों को काव्यालंकारों से सुशोभित करते रहते हैं। इसी अध्याय के अन्त में आप उनकी रचनाओं का आनन्द लीजिये।

(५)

एक और सज्जन ने एक बार अपने ऊपर बीती घटना बताई। वह उन्हीं के शब्दों में सुनिये !

पूर्व काल में मुझे साधुओं पर किंचित मात्र भी आस्था नहीं थी। मैं उन्हें समाज का भार समझता था और सदैव उनकी निन्दा किया करता था। परन्तु श्री स्वामी जी के सम्पर्क से मेरे विचार बदल गए। एक बार मैं रेल में यात्रा कर रहा था। एक छोटे से स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो उसमें एक साधू मेरे डिब्बे में चढ़ा। तुरन्त मैंने कहा—

"यहाँ जगह नहीं है।"

"कहाँ ! डिब्बे में कि दिल में।" उसने उत्तर दिया !

"आप का मतलब ? सीट पर बैठियेगा कि दिल में घुसियेगा ?" वह साधू बड़ा मस्त था। सामान रखता गया और बोला,—

"क्या सारे डिब्बे का उत्तर दायित्व तुम्हारे ही ऊपर है ?"

मुझे अच्छा न लगा, झुझँला कर साधू से बोला—

"अच्छा चलो आगे बढ़ो। मेरी खोपड़ी मत चाटो।"

"यदि तुम्हारी खोपड़ी चट जाए तो उसकी कालिमा चली जाए तुम उज्जवल हो जाओ।"

"उससे क्या होगा।"

"तुम्हारे नेत्र खुल जाएँगे।"

"फिर ?"

"तुम्हें तथ्य की बात सूझने लगेगी।"

"क्या तुम मुझे अन्धा समझते हो ?"

"और क्या ! मुझे सन्देह है कदाचित् एक नेत्र ठीक हो।"

"मुझे क्रोध आ गया। कड़क कर बोला—

"मुझ से मत बोलो।"

"मुझे तो बोलने और न बोलने में कोई हानि लाभ प्रतीत नहीं होता। हाँ यदि मेरे बोलने से किसी का हित हो तो बोलने में कोई हानि

नहीं। मैं देखता हूँ कि तुम्हें क्रोध हो आया है। यह किसके ऊपर ?"

"तुम्हारे ऊपर।"

"मेरे ऊपर ! क्यों, मैंने कौन सा तुम्हारा खेत उजाड़ा है !"

"सरासर उत्तर प्रतिउत्तर करते हो फिर भी क्रोध का कारण पूछते हो।"

एक ओर शाँत चित्त साधू और दूसरी ओर मस्तिष्क बिगाड़े हुए मैं, बाबू। डिब्बे के और लोग भी उस ओर खिंचे। कुछ लोगों ने मुझ से कहा भी कि जाने दीजिये होगा। वह तो चुप हैं और आप बिगड़ते जाते हैं। इस पर मैंने कहा कि आप क्या जानें। आजकल जितने भ्रष्ट आचार वाले, चोरी चमारी करने वाले जब कुछ कर नहीं पाते तो साधू हो जाते हैं और फिर इस प्रकार से बातें ज्ञान की बघारते हैं। उस पर साधू को हँसी आ गई और बोला—

"ठीक है आजकल की सभ्यता में चोर बाजारी करने वालों, दूसरों को पथ भ्रष्ट करने वालों, सीधे सादे मनुष्यों को ठगने वालों को अच्छा स्थान मिलता है। परन्तु बात यह है कि जहाँ शारीरिक टीमटाम ठीक कर ली कि हो गए सभ्य। परन्तु परस्थित पड़ने पर उनके अन्त:करण के दूषित उद्‌गार बाहर निकलते हैं और जो वास्तव में सद्‌विचार के सीधे सादे मनुष्य हैं उन पर शंका करते रहते हैं और स्वाभाविक अश्रद्धा रखते हैं।

इस प्रकार की बातें हो ही रही थीं कि उस डिब्बे में टिकट निरीक्षणार्थ रेल विभाग का कर्मचारी आ गया। उसके प्रवेश से डिब्बे में थोड़ी शान्ति हो गई। मैं उस समय तक तो बड़े आवेश में था। परन्तु उस कर्मचारी को देखते ही मेरा मुँह फीका पड़ गया एक विचित्र प्रकार की निराशा की आभा चेहरे पर दीखने लगी। कारण यह था कि मेरे पास टिकट न था यह बात टिकट देखने वाले सज्जन के पूछने पर प्रगट हो गई। वह कर्मचारी जब साधू के समीप आया तो टिकट देखते हुए बोला—

"क्या आप लाहौर में रहते हैं?"

"हाँ! हम लाहौर में भी रहते हैं और यत्रतत्र सर्वत्र भी रमे रहते हैं।" उस व्यक्ति ने तुरन्त साधू को पहचान लिया और चरणों में नत मस्तक हुआ। इस घटना से डिब्बे के अन्य यात्रियों पर बड़ा प्रभाव पड़ा। सब एक दूसरे को देखने लगे और 'यह कौन है?' इस प्रश्न के उत्तर पाने की तीव्र जिज्ञासा जाग्रत हो गई। एक व्यक्त ने टिकट देखने वाले से पूँछा —

"बाबू जी यह कौन हैं? क्या यह महात्मा हैं?

हाँ! क्या तुम्हें नहीं मालूम। यह शहन्शाह जी महाराज हैं बड़े भाग्य से महापुरुषों के दर्शन होते हैं। साधू का महात्म प्रगट हो गया। लोगों ने प्रत्यक्ष देखा कि स्वामी जी अपनी वाग्पटुता लोकप्रियता तथा गम्भीरता आदि गुणों में अद्वितीय हैं। टिकट निरीक्षक महोदय से और स्वामी जी से खूब छनी। वह मुझसे टिकट के अभाव में रेल का भाड़ा (जोकि अच्छी रक़म थी) देने के लिये कहते थे! धनाभाव के कारण उसे देने में मुझे विशेष आपत्ति थी अन्त में स्वामी जी मेरा भाड़ा देनेपर उद्यत हुए। टिकट निरीक्षक ने जब उसे अस्वीकार करना चाहा तो स्वामी जी ने इन्हे भी उनकी सच्ची सेवा का स्मरण दिलाया और मेरा भाड़ा दे दिया। बस फिर तो मैं मारे लज्जा के गड़ने लगा। स्वामी जी ने धैर्य बँधाते हुए बहुत समझाया और कहा —

"घटना इतना महत्व नहीं रखती परन्तु घटना के पीछे जो सिद्धान्त होता है वास्तव में उसका महत्व है। घटनाएँ तो हमारे सबके जीवन में होती ही रहती हैं। उनको हम प्रायः भूल जाते हैं और इसी कारण से हम उन्नति भी नहीं कर पाते। परन्तु जब कभी भी घटना के अन्ततस्थल में निहित सिद्धान्त पकड़ मिलता है तब उससे मनुष्य को लाभ पहुँचता है।"

मुझे अबतक बड़ा धोखा था। मैं तो साधू का अर्थ ही कुछ

और समझता था परन्तु स्वामी जी के इस व्यवहार तथा उच्च विचारों के प्रभाव ने मेरे ऊपर एक नया रंग चढ़ा दिया। एक नया जीवन सन्देश मिला। जैसा कि स्वामी जी ने पहले कहा था" जब खोपड़ी चट जायगी तब उसकी कालिमा दूर हो जायगी। वास्तव में यही हुआ। मैंने कहा स्वामी जी मुझे भी जीवन का कुछ आधार मिलना चाहिये। स्वामी जी मुसकराए और बोले—

"जितने आधार तुमने दिल से पकड़े हैं उन्हें एकदम छोड़ दो बस असली आधार मिल जायगा।'

"स्वामी जी मेरी समझ में नहीं आया। मैंने तो शायद कोई आधार नहीं पकड़ा है।"

"बात ठीक कहते हो इतनी जल्दी तथ्य की बात बुद्धि में नहीं प्रवेश करती। जिस मनुष्य को पीछे लौटना है उसे पहले रुकना पड़ेगा तब वह कहीं पीछे लौटेगा। आगे बढ़ता हुआ प्राणी पहले यह देखे कि उसके आगे विनाश तो नहीं है। यदि उत्थान है तो ठीक है और यदि विनाश है तो उसे रुक कर बदलना चाहिये। सुनो! संसार से जितना तुमने लिया है वह सब उसे लौटाकर हलके हो जाओ और जीवन पथ पर मस्ती से दौड़ते हुए चलो।"

मैंने कहा 'प्रभू भीख माँगता हूँ।'

'किस बात की?"

'मैंने जो अभी असभ्यता का परिचय दिया उसे भुला दीजिए।"

स्वामी जी का प्रेम उमड़ पड़ मेरा हाथ पकड़ लिया और मेरे नेत्रों की ओर देखने लगे। मैं क्या बताऊँ उनके स्पर्श से मुझे क्या मिला। हक्का बक्का सा रह गया। कुछ न बोला। हाथ छोड़ देने पर मैंने सिर झुकाया। वह बोले।

'जाओ खुल गए कपार।'

मैं निहाल हो गया। आज इस घटना को कई वर्ष हो गए।

परन्तु स्वामी जी के चेहरे का भोलापन उनकी सौहार्दता, तथा दीनों के प्रति प्रेम आदि गुणों की थाह नहीं लगाई जा सकती।

सन्तों की महिमा तथा उनके चमनकारों को भला हम क्या जान। उनकी महिमा के गुण गान के संबन्ध में जब यह बात है कि—

शेष महेश गणेश सब, कहत सुनत सकुचाहिं।
ऐसे गुण गण सन्त के, मो पै किमि कहि जाहिं।।
जगहित मन में धारिके, कारज सकल करन्त।
शुद्ध होत मन ध्यान करि, ऐसे कोमल संत।।

तो और कोई कह ही क्या सकता है। पुस्तक के कुछ पन्नों में श्री स्वामी जी की परम पुनीत महिमा का थोड़ा सा दिग्दर्शन मात्र करा देने से उसकी इति श्री नहीं समझी जा सकती है। ऐसे अनेकों भक्त हैं जिन्हों ने स्वामी जी के अद्भुत चमत्कारों को देखा है परन्तु गूँगे के गुड़ के समान वह कहते नहीं स्मरण कर के कृत्य २ हो जाते हैं। स्वामी जी ने अपने जीवन से यह प्रमुख मार्ग ही हमें बताया जो जीवन की समस्याओं का सरल हल बताता हुआ परमार्थ पथ पर अग्रसर कर देता है।

तुलसी ऐसे कहुँ कहूँ, धन्य धरनि बहु संत।
पर काजै परमारथी, प्रीति लिये निबहन्त।।
शत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।
तुलसी यह मत सन्त को, बोलै समता माहिं।।
बिरले बिरले पाइये, माया त्यागी सन्त।
तुलसी कामी कुटिल खल, केकी काक अनन्त।।
महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाय।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाय।।

[वैराग सन्दीपनी]

शाहन्शाही जयकारा:—

[श्री स्वामी सर्वानन्द जी]

जै बोलो सतगुरु प्यारे की। सत प्रेम जगत उजियारे की ।।
जै बोलो सतगुरु स्वामी की। सत प्रेम पन्थ अनुगामी की ।।

जै बोलो सन्त शहन्शाह की। सत प्रेम के मंत्र के दृष्टा की ।।
जै बोलो सन्त शिरोमणि की। निज भगतों के जीवन धन की ।।

जै बोलो सत ब्रत धारी की। गोपाल जती ब्रह्मचारी की ।।
जै बोलो महा तपीश्वर की। निर्द्वन्द् ऋषि योगेश्वर की ।।

जै बोलो सत शिव सुन्दर की। जै मुर्शिद मस्त क़लन्दर की ।।
जै बोलो स्वर के ईश्वर की। संगीत कला के मर्मग की ।।

जै बोलो अन्तर्यामी की। जै सर्वहितकारी स्वामी की ।।
जै सत्य प्रेम परकाशक की। जै मिथ्या मोह के नाशक की ।।

जै त्यागा नन्द समुन्दर की। जै सत् चित आनन्द सुन्दर की ।।
जै तेज पुँज सुख राशी की। जै बोलो घट घट बासी की ।।

जै महामंत्र के दाता की। जै भव सागर के त्राता की ।।
जै अनहद राग गवइया की। जै अन्तर नाद सुनइया की ।।

जै अन्तःकरण मल नाशक की। जै विमल ज्योति परकाशक की ।।
जै भगतों के रखवाले की। महऋषी बनाने वाले की ।।

जै सत्य स्वरूप ऋषेश्वर की। जै दुख हर की, जै सुख कर की ।।
जै दीन बन्धु हितकारी की। जै शुक्ल श्याम बनवारी की ।।

जै निजानन्द जै वासिल की। जै सच्चे आरिफ़ कामिल की ।।
जै नर नारायण प्यारे की। सत प्रेम के पालन हारे की ।।

जै मस्त राम अवतारी की। जै 'सर्वानन्द" विहारी की ।।

शहन्शाह

जिन्हें मंजूर है जलवा ख़ुदा का देखना देखें।
कि सन्तों की शकल में सामने दुनियाँ के आया है ॥
गो ज़ाहिर में यह इन्साँ हैं, हक़ीक़त में शहन्शाह हैं।
बड़े हैं आप भी बेशक, बड़ी ही इनकी माया है ॥
जहाँने रङ्गो बू में भी, इन्हीं का हुक्म चलता है।
वह बातिन की क़लम रौ भी, इन्हीं के ज़ेरे साया है ॥
इन्हों की ख़ामशी और गुफ़तगू दोनों ही बरहक़ हैं।
कभी हैं बरमला बातें कभी रमज़ों कनाया है ॥
नहीं कुछ ज़ोर चल सकता है अक़्लो हुस्न का इन पर।
जो अर्बाबे अक़ीदत हैं उन्हीं ने फ़ैज़ पाया है ॥
जो इल्मों हुस्नों दौलत नाच दुनियाँ को नचाते हैं।
इशारे पर उन्हें भी नाच तिगनी का नचाया है ॥
जो दुनियाँ के लिये आफ़त हैं, वह यहाँ सिर निगूँ रहते।
ग़ज़ब है हिर्स है वह या ख़ुदी है मोह माया है ॥
चाहे जिस हाल में भी हों, हमेशा मग्न रहते हैं।
ख़ुशी में यह समाए हैं, सरूर इनमें समाया है ॥
जवानी में ज़ोहद तक़वा व पीरी में गरम जोशी।
बताओ रहवरे कामिल, किसी ने ऐसा पाया है ॥
हक़ीरे दिल शिकस्ता वह, कि दुनियाँ जिन पे हँस्ती थी।
उठाकर उनको नीचे से गले अपने लगाया है ॥
मेरे मुर्शिद की अज़मत का पता पूछो फ़क़ीरों से।
जो थे गुमगश्त: मंज़िल के उन्हें रस्ता दिखाया है ॥
सुना है इब्ने मरियम को, मसीहाई भी करते थे।
जो देखा याँ पे आँखों से, यक़ीं तब उसपे आया है ॥

वही सरकार सच्ची है, जहां बन्दा नवाज़ी है।
न अब तक मिल सका हमको जो यां से खाली आया है ॥
ख़ुदा की न्यामतें दुनियां में इक से एक बढ़कर हैं।
मगर सबसे बड़ी रहमत मुझे मुर्शिदा का साया है॥
अक़ीदत और उलफ़त के ही, ज़ज्बे का असर है यह।
किया महसूस जो दिल ने, ज़बां से कह सुनाया है॥
निगाहें मेहर से जो देख लें सरसब्ज़ हो जाएँ।
ये टूटे फूटे लफ़ज़ों की नज़र बेदार लाया है॥

सर्व हितकारी नियम

ख़ुश सदा रहना जहां में, क्या ही अच्छा काम है,
है यही पूजा हरी की, यह ही जपना नाम है।
काम करके उसके फल की, व्यर्थ क्यों चिन्ता करें,
फल का देना काम उसका, करना अपना काम है॥
काम जो अच्छा है उसको झट से बस कर डालिये,
दुनयावी कामों को बेशक आज कल पर टालिये॥
सत से सम्बन्ध जिसका वह ही अच्छा काम है,
मोह से रिश्ता बन्धा जिसका वह झूठा नाम है॥
वीर सच्चा है वही सच बोलता जो रात दिन,
डरती है मिथ्या उससे यूँ जैसे शिकारी से हरिन।
पहचानना सच झूठ का लेकिन यह मुशकिल काम है,
जिसकी प्रभू से प्रीति है सच्चा उसी का नाम है॥
जब प्रभू है हर जगह अपना पराया किस लिये,
द्वेष फिर किसके लिये, झगड़ा लढ़ाई किस लिये॥

ढ़ूँढ़ता रहता जो झगड़े उसका मूरख नाम है,
जो बचा रहता है इनसे वह ही खुश अंजाम है ।।
बात जो दिल में बसी वह हो ज़बां पर लाइये,
जीवन सफल होगा तभी पूरा उसे कर जाइये !
हैं कौन फिर उससे बड़ा जिसका ऐसा काम है,
बाक़ी नहीं रहता फ़कत जो कुछ है वह सो राम है।
जब आ बने जी जान पर क़ुरबान कर देते हैं ज़र,
और आब्रू के वास्ते जां को लगाते दांव पर।
क़द्र करना वक्त की, इससे भी बढ़कर काम है,
जो वक्त को काबू करे, ज़िन्दा उसी का नाम है ।।
चाहें जो खाओ पियो लेकिन न यह भूलो कभी,
हैं दूसरे प्राणी बहुत इनका तो हक इसमें नहीं।
निर्बल की आहों से डरे, बलवान उसका नाम है,
सरकश के आगे न झुके, यह सूरता का काम हैं ।।
दिल अगर काबू में है तो यह ही सच्चा दोस्त है,
दुनयवी लज़्ज़ात में फंस कर तो मलकुल मौत है।
सच्चे दिलवर से लगा है तो ही दिल आराम है,
वरना पाजी है बड़ा, इबलीस इसका नाम है ।।

सुबह को सूरज से पहले शाम को सूरज के बाद,
है वह यह वक्त जबकि गीत गाती कायनात।
ध्यान करना नित प्रभू का यह ही तेरा काम है,
राज़ फिर खुलने लगेंगे कौन तू क्या राम है ।।
दूसरों के काम आना यह ही सच्चा त्याग है,
अपनी ख़ातिर दूसरों से काम लेना राग है।
त्याग अच्छा है वही जो दिल से और निष्काम है,
त्याग का जो त्याग करदे जान लो वह राम है ।।

संत प्रेम की होगी विजय सच्चा यह इलहाम है,
परदा हटा कर मोह का देखो जिधर फिर राम है।
सत् की कसौटी प्रेम है और त्याग उसका नाम है,
जो है शहन्शाहे जहां उसका यही पैग़ाम है॥

सत्य और प्रेम

सत्य क्या है ? एक प्रभू की धारणा,
प्रेम है अपनी ख़ुदी को मारना।
प्रेम से परकाश होता सत्य का,
सत नहीं तो प्रेम का आधार ना॥

बात सच्ची प्रेम से ख़ाली अगर,
काट तो करती, नहीं करती असर।
फूलता फलता है ऐसा सत्य ही,
प्रेम की सूरत में हो जो जलवागर॥

सत्य का दावा यहां किस को नहीं,
प्रेम ही उसकी फ़क़त पहचान है।
सत्य से है प्रेम तो वह है ख़ुदा,
प्रेम बिन जो सत्य है, शैतान है॥

जब ख़ुदा ने आदमी को शक्ल दी,
सब फ़रिश्तों से कहा दें सिर झुका।
तब कहा शैतान ने ऐ मेहरबां,
ग़ैर को कब से हुआ सिजदा रवा

बात तो माक़ूल थी शैतान की,
थी ख़ुदी से पुर इसी से फंस गया।
बस यही पहेचान है सत प्रेम की,
बेख़ुदी जिस ज़ात में है वह है ख़ुदा॥

———

शाहन्शाही दरबार की झांकी

तेरे दरबार की सतगुर अनोखी शान देखी है ।
कि आँखें जिन पे नाज़ा हों अनोखी शान देखी है ॥
सुरीली तान में हर दम मसर्रत राग गाती है ।
सरासर ग़म की बस्ती ही यहाँ वीरान देखी है ॥

हुकुम की मुन्तज़र रहती अनोखी शान देखी है ।
इशारे पर ग़रीबी आन भी क़ुरबान देखी है ॥
जिन्हें दावा अक़्ल का है, वही बनते हैं मजनूँ याँ ।
जहाँ वालों की लैला भी यहाँ हैरान देखी है ॥

अगर मरदों ने चक्खा है मज़ा कुछ शान भक्ती का ।
तो माताओं ने भी याँ पर, ख़ुशी की खान देखी है ॥
बुज़ुर्गों में यहाँ देखी जवानों की गरम जोशी ।
जवानों और बच्चों में बुज़ुर्गी शान देखी है ॥

शहन्शाही की मस्ती को, फ़क़ीरी में अयाँ देखा ।
और इन्सानों की सूरत में, ख़ुदा की शान देखी है॥
कई प्रेमी हैं ऐसे भी नहीं जिनको पता अपना ।
शमा पर जलने वालों की यही पहचान देखी है ॥

ख़ुदी के दूर करने के अजब अन्दाज़ देखे हैं ।
कि तलख़ी और शोख़ी में, छुपी मुस्कान देखी है ॥
चौरासी से छुड़ाने को चौरासी मंत्र बख़्शे हैं ।
कि जिनके सिद्ध करने से ख़ुशी हर आन देखी है ॥
सचाई प्रेम की जय हम ज़बाँ से बोलते बेशक ।
मगर दिल में तो मिथ्या मोह अभी मेहमान देखी है ॥
उसी की जुस्तजू है जो मेरे प्यारे का प्यारा है ।
फ़रिश्ते देखे हैं वरना परी की शान देखी है ॥

सभी कुछ देखने पर भी यह देखना बाक़ी।
कि सर्वानन्द की जाँ हमने अब कुर्बान देखी है ॥

[१] शहन्शाह के प्रति

[श्री अवधेश दयाल जी एम० ए० एल० टी० एल० एल० बी०]

शहन्शाहे जहाँ भी क्या, गदाई में उतरते हैं ?।
भला हो खल्क़ का क्या, इसलिये ही ख़ाक मलते हैं ?॥
मिला हक़ जिनको उनको ख़ाक हैं ज़र ज़न ज़मीं लेकिन।
कमाले इश्क़ तो देखो कि वो दरदर भटकते हैं ॥
मिला है चैन जिनको यार के दीदार से दिल में।
वह किसके होके रहते हैं महल में कब अटकते हैं ॥
दिखाते हैं बड़ी ख़ातिर उन्हें दुनियाँ के परवाने।
ज़मीर उनका हुआ रोशन, भला वह कब फिसलते हैं ?॥
हज़ारों आरजूएँ भागती हैं पीठ के पीछे।
वो रूए हक़ चले हैं अब भला क्योंकर पलटते हैं ?॥
मुनासिब उनकी दीदारी कि दुनियाँ की नहीं हसरत।
न उनके दामने दिल में, कहीं धब्बे निकलते हैं ॥
न उनको जिस्म की उल्फ़त, मुरीदों की नहीं हसरत।
बमिस्ले शेर के सहराए, तनहाई में मरते हैं ॥
मिला है वस्ल जिनको नूर का, ख़ालिक़ व मालिक के।
कहाँ है नफ़्स अब बाक़ी, फ़कीरी इसको कहते हैं ॥
अमीरों को हि दहशत डाकुओं की भी सताती है।
फ़कीरी मस्त जिनकी है, वे ख़ुश मरघट में रहते हैं ॥
फिरे पीछे लगी इशरत, मगर वह देख लें क्योंकर।
न इसकी उनको है दरकार जो वहदत में रहते हैं ॥
सयाने वह नहीं हैं जो कि ज़र में पस्त रहते हैं।
बिना सामाँ हमारे पीर दिल में मस्त रहते हैं ॥

गदाई है न रोने को, न शाही मुसकराने को।
सकूने दिल फ़कीरी में, हमेशा है हँसाने को॥
जो इसका हो गया और खो गया दुनियां की राहों से।
न पूछो उसके खाने को, न पूछो तुम घराने को॥
हमेशा नूरे हक़ जो देखता है दिल लुभाने को।
हमारा गोशए दिल मुन्तज़िर है उसके पाने को॥
गदाई में शहन्शाही लक़ब को आज़मा देखो।
मिटीं गर ख्वाहिशें दिल की तो क्या कुल है बताने को॥
ख़याले मस्तिए हक़ को, बसाना दिल में बेहतर है।
बहाना नग़मए हक़ का, मिला हमको सुनाने को॥

---

(२)

हमारे हृदय मन्दिर में, सदा गोपाल जी राजैं।
भसम को लेपकर निर्लेप होकर जगत में भ्राजैं॥
न जिनके हृदय पंकज में, कहीं आसक्ति की छाया।
प्रलोभन हारकर बैठे, न व्यापी जिनको कुछ माया॥
निरादर और आदर में, बनाकर चित्त सम अपना।
समझते थे सिखाते थे, जगत को व्यर्थ का सपना॥
न सम्बन्धी न अपनी मण्डली भी, प्रेम से सानी।
लुभाती थी जिन्हें किंचित्, सदा थी सत्य प्रिय बानी॥
किसी के प्रेम ने जिनको, न बांधा विश्व बन्धन में।
विहंगम से उड़े नभ में, प्रभू के प्रेम बन्धन में॥
हुए जब भसम सब अरमान तो रहमान भी आया।
अनेकों त्याग करके एक का, शुचि ध्यान भी आया॥
रमण कर योग में जल धार से, बहते हुए घूमे।
न इसका ध्यान भी आया, कि कितनों ने चरण चूमे॥

वो निर्मोही रहे और मोह बन्धन, काटते भी थे।
मगर थे प्रेम के दाता वह अमृत बाँटते भी थे॥
दिया तन छोड़ सबसे तोड़ नाता, यह विरक्ती थी।
न आया याद कोई बस, परम प्रभु की ही भक्ती थी॥
वो शाहन्शाह थे परवाह जिन की चाह भी छूटी।
न प्रिय दुनिया रही तो फिर हृदय की आह भी छूटी॥
नहीं जो एक के दिल में बसे, वह बस गए सब के।
नहीं जो एक ही के हो रहे, वह हो गए सब के॥
कि उनका प्यार भी सर्वत्र था, बस राम के नाते।
कि मस्ती थी कृपा भी थी, अनूठी नाम के नाते॥
गए परलोक पर आलोक उनका हृदय में छाजै।
हृदय में प्रेमियों के नित नई उपदेश ध्वनि बाजे॥
उन्हीं के शुभ चरित की झांकियाँ मन में सदा आजैं।
हमें उद्धार करने को, सदा गोपाल जी राजैं॥

(३)

धूनी रमा के आप 'शहन्शाह हुए थे।
जीते ही अपनी मौत से आगाह हुए थे॥
फ़ौजों का तलातुम न था बाजों का न था शोर।
दिल जीत करके आप बादशाह हुए थे॥
थी तो बसी वह सलतनते इश्क़ तुम्हारी।
उस से भी मगर आप बेपरवाह हुए थे॥
सद मस्तियां थीं खेलती रुख़सार पे हरदम।
पीकर मए वेहदत को बे चाह हुए थे॥
मस्ती से छोड़ना तेरा आख़िर गिलाफ़े जिस्म।
हमको बता गया कि तुम बे आह हुए थे॥
छोड़ी नजीर राहे हक़ीक़त में अनोखी।
उनके लिये कि जिनके हम राह हुए थे॥

ख़ुशियाँ नहीं नसीब हैं शाहों को भी अकसर।
चाहों से छूट करके आप शहन्शाह हुए थे॥
जज़्बे को ले के इश्क़ के हक़ से जो मिलाया।
सत प्रेम मिला उनको जो गुमराह हुए थे॥
हीरे की क़लम से था वह जुमलए क़िसमत क्या।
तुम ले हयात यां, सफ़ीरे राह हुए थे॥

A Tribute

(A. Dayal)

O Shahanshah, the King of Kings thy name,
And whiter than pure silver was thy fame,
Thou roaming hermit musician expert
A man of letters, logical thou wert,
Thou wandered on this earth, like distant sun,
Blessings to all and yet attached to none,
The unseen presence of the God was seen
By thy pure heart and thy intellect keen,
With Godhead drunk and yet in life so smart
Less preaching and more practice was thy part,
Steeped thou wert in great Vedantic lore,
Thy heart imbibed it to its very core,
Not everywhere nor every time are found
Such saints with contemplation so profound,
Big cities also shared thy holy rounds
Yet thou perhaps lovedst more cremation grounds.
And saints like thee do constitute the grace,
Of holy yet forlorn and lonely place.
They are the charms of forests, places wild,
And for their sake the mountain-climb is mild.
In life and death true greatness always thine,
Of detachment thy heart indeed a mine,

Like lion, thou cast thy body all alone
No longing vexed, thy inner light a throne,
The earthly mantle was cremated soon
And yet thy memory is still a boon.
Like Pole-star a guide on the seas
It will inspire the mind that thinks and sees,
Uncounted hearts still bear thy seal of love—
Admiring seekers can still rise above.
Gone to the skies and yet on earth alive
A call to us, "Awake, arise, strive,"
Truth and good love thy message doth combine
The driving force of life and yet divine.
At dirty ways of lust, thy thoughts glanced not
Yet intertwined was love in thy pure thought.
Not love in which men fall and go to dust
But love which raises and rids him of lust.
For this let saints and seekers think of thee
With truth and love will mind and heart be free.

श्री स्वामीजी के जन्म कर्म दिवस के अवसर पर

(श्री मती प्रेमा माता जी)

आज शुभ वक्त आया है, मुबारक हो मुबारक हो।
मुबारक बाद गाया है, मुबारक हो मुबारक हो॥
मुबारक हम सबों को आज का यह शुभ दिवस होवे।
श्री महराज जी को तख्त शाहाना मुबारक हो २॥
थी जननी धन्य वह जिसने इन्हें जीवन दिया जंग में।
किया उपकार कैसा शुभ, मुबारक हो २॥
रहें आकाश पर जब तक चमकते सूर्य ओर तारे।
न इनका बाल हो बांका मुबारक हो २॥

कृपा से आप की यह दिन, खुशी का आज आया है।
रहें आते सदा यह दिन, मुबारक हो मुबारक हो २ ।।

गुरू के प्रति श्रद्धा

हमारे गुरू पूरण हैं, चरनों में शीश नवाऊँ।
ज्ञान भक्ति की खान सदा से, कैसे गुण गण गाऊँ ।।
सब कुछ करते पर कुछ नहिं करते, व्यापक सब ही ठाऊं।
शरण लीजिये मुझ दासी को, शान्ति हृदय में पाऊँ ।।
दोउ कर जोरि करूँ बिनती प्रभु, भक्ति ज्ञान मैं पाऊं ।।
नित रहूँ द्वार पड़ी तेरे मैं, चरण कमल बलि जाऊं ।।

श्रीमती भजनेश्वरी जी

(च)

तेरी शरण में जो गया, भव से उसे छुड़ा दिया।
चाहे हो जैसा पातकी, पावन उसे बना दिया ।।
जिस की लगन हो आपसे, उद्धार होय आप से।
छुट जाए जग के तापसे, शीतल उसे बना दिया ।।
दर २ भटकता है वही, जो तेरी शरण गया नहीं।
भूले से गर गया कहीं, रस्ता उसे बता दिया ।।
भाग्य प्रबल उसी का है, त्याग लबल उसी का है।
जीवन सफ़ल उसी का है, तुमने जिसे जगा दिया ।।
जिसको भरोसा हो गया, बेड़ा भी पार हो गया।
अलमस्त फिर वह हो गया, प्याला जिसे पिला दिया।।
तुम तो पतितके नाथ हो, और भक्त जनों के साथ हो।
मुझसी अधम विमूढ़ को, 'भजनेश्वरी बना दिया ।।'

(छ)

काहे मन भूला फिरे हर जाई रे ।
आओ हरी शरणाई रे ॥
ऊंची अटरिया पर सेज पिया की,
सुरत लगा सुख पाई रे।
तन मन धन सब अर्पण करके,
आन्दन घन लौ लाई रे ।
रैन दिवस कर सुमिरन हरि का,
चौरासो छुटि जाई रे ।
ऐसा यत्न करो 'भजनेश्वरी',
प्रभू में जाय समाई रे ।

---

(१)

रे मन सन्त चरण तू लाग।
मोह तिमिर में मत सोवै अब,
सत्य भोर भयो जाग।
जग विषयन में रात दिनां तू,
फँस्यो करत अनुराग ।
यह अनुराग छांड़ि मन मूरख,
सन्त के पन्थहिं लाग ।
सत्य प्रेम की राह मनोहर,
चलै, मिलै अनुराग।
रंक शहन्शाह तोहि जगावत,
जाग, जाग, अब जाग।
[लेखक]

—०—०—

आरती

आरति सन्त शहन्शाह स्वामी ।
सन्त शिरोमणि पावन नामी ॥

जन्म लियो गोपाल कहाये । शक्ति सहित प्रभु जग में आए ।
प्रेम वारि की धार बहाये । पाहि पाहि करुणा निधि स्वामी ॥
बड़े भये विद्या सब पाई । तपहित गए बनहिं हर्षाई ।
शान्त चित्त साधन चितलाई । राम भक्ति तब तन मँह जामी ॥
रोग भयोतन छीजो काया । मस्त राम सों जीवन पाया ।
भक्ति ज्ञान रस उत उप जाया । भिटा भेद भए पूरण कामी ॥
ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण कीन्हा । नेम प्रेम महं अतिचित दीन्हा ।
सत्य निष्ठ वर प्रभु सों लीन्हा । बने सकल जग के वह स्वामी॥
सत्य प्रेम के बड़े पुजारी । मिथ्या मोह की नीव विदारी॥
जग माया सब इन सों हारी । भगतन के उद्धारक स्वामी ॥
दीन भाव में रंक कहाये। बने शहन्शाह हरि को पाये ॥
दीनन के मन अति ही भाए । जय जय सन्त अनन्त नमामी ॥
सत की राह चलो मिलि भाई । प्रेम बढ़ै अरु सुख अधिकाई ॥
मिलैं शहन्शाह तब हर्षाई। बन जाओ सत पथ अनुगामी ॥

आरति सन्त शहन्शाह स्वामी ।
सन्त शिरोमणि पावन नामी ॥

(लेखक)